डॉ. प्रभाकर माचवे
हिन्दी
आलोचना
अतीत और वर्तमान

हिन्दी आलोचना : अतीत और वर्तमान

डॉ० प्रभाकर माचवे

प्रथम संस्करण : १९८८

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक : एकेडमी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

मूल्य : २०/–रुपये

प्रथम संस्करण : १९८८

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक : एकेडमी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

मूल्य : २०/–रुपये

अनुक्रम

●

प्रकाशकीय

श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के ऐसे वरिष्ठ एवं अनुभवी साहित्यकार हैं जिनका क्षेत्र केवल हिन्दी तक सीमित नहीं है। मूलतः मराठी भाषी होकर वे बँगला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं का अतिरिक्त ज्ञान रखते हैं, इतना कि उन्हें सजीव ज्ञान-कोश कहा जा सकता है। उनका लेखन और भाषण भी प्रायः कोशात्मक होता है। साहित्य, संस्कृति और कला में उनकी असाधारण पैठ रही है। कवि, उपन्यासकार, निबन्धकार, समीक्षक और सम्पादक के रूप में उनकी प्रसिद्धि अखिल भारतीय स्तर पर मान्य है। आशु-रेखाकर होने का गुण उनमें इतना है कि मुझे भी ईर्ष्या होने लगती है। आकाशवाणी, इलाहाबाद, साहित्य अकादमी, दिल्ली तथा "भारतीय भाषा परिषद्" कलकत्ता से वे वर्षों जुड़े रहे। देशी-विदेशी साहित्यकारों एवं साहित्य-प्रवृत्तियों से उनकी प्रामाणिक जानकारी रही है।

हमारे आमंत्रण पर २८ तथा २६ जुलाई, १६८४ को हिन्दुस्तानी एकेडेमी में उन्होंने तीन व्याख्यान दिये जिनके विषय थे—

१. हिन्दी आलोचना का अतीत

२. छायावाद और परवर्ती समीक्षा

३. हिन्दी आलोचना और भारतीय भाषाओं का साहित्य

ये तीनों व्याख्यान "हिन्दी आलोचना : अतीत और वर्तमान" नाम से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

उन्होंने अपने व्याख्यानों में कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। विशेषतः अन्तिम व्याख्यान इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

(१) प्राचीन ग्रन्थों में प्रामाणिकता की पाठभेद की समस्या;

(२) निरपेक्ष ऐतिहासिक दृष्टि अथवा कवि-जीवनपरक, धर्म-विश्वास वाली आलोचना-पद्धति की वरीयता;

(३) सम्प्रदाय-विरोधी सुधारक दृष्टि या विशुद्ध साहित्यिक निकष की मान्यता;

(४) अतिशयोक्तियों, शत्रु पक्ष की दुर्दशा और सम्प्रदाय विशेष की सीमा, राष्ट्रीय धारा के साथ विश्व-चेतना की संगति, श्रृङ्गारिकता में आध्यात्मिकता का समावेश, करुण रस कहाँ तक मार्मिक एवं उदात्त कहाँ तक दयनीय;

(५) रचना-शक्ति कहाँ तक रचनेतर, सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ना सम्भव, मार्क्सवाद और वर्गचरित्र की साहित्य क्षेत्र में अनिवार्यता जैसी समस्याएँ उन्होंने अपने व्याख्यानों में उठायी हैं।

समाधान की उत्सुकता, चिन्ता और चेष्टा समाधान से कम महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती है।

अतः माचवे जी का योगदान निश्चय ही विचारप्रेरक सिद्ध होगा। दुर्भाग्य से उन्हीं दिनों मैं असाधारण रूप से रोगग्रस्त हो गया था और अस्पताल में भरती होने की विवशता आ गयी थी। यद्यपि इन भाषणों के समायोजन का दायित्व मुख्यतया मुझ पर ही था और मैं स्वयं उपस्थित होने की उत्कट अभिलाषा भी रखता था, पर वैसा सम्भव न हो सका। अब मैं भी एक पाठक की तरह इन्हें पढ़ने की स्थिति में आ गया हूँ। माचवे जी का श्रवणीय श्रम पठनीय हो गया है। पाठकों के साथ अपने को जुड़ा होने का यह अतिरिक्त सुख इसके पाठकों भी सुखद लगेगा।

जगदीश गुप्त
सचिव एवं कोषाध्यक्ष

१

हिन्दी आलोचना–अतीत

अध्यक्ष महोदय और मित्रो,

आपने मुझे यह सम्मान दिया, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। मेरी हिन्दुस्तानी एकेडेमी की पहली स्मृति सन् १६३५ की है जब एक सत्र में सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी 'राजस्थानी लोकगीतों' पर भाषण दे रहे थे। मैं माखनलाल चतुर्वेदी जी के साथ यहाँ आया था। वहीं हाल के बाहर प्रेमचन्द जी के दर्शन किये थे। एक कवि-सम्मेलन भी विजयानगरम् हाल में आयोजित था जिसमें मैथिलीशरण जी 'द्वापर' से कोई कविता पढ़ रहे थे और श्रोता सुनना नहीं चाहते थे। इतनी-सी धुँधली स्मृति मेरे मन में है।

दूसरी बार, मैं, राहुल सांकृत्यायन के साथ उनके भाषण हिन्दुस्तानी एकेडेमी में हुए, तब इस संस्था में सन् १६५० के करीब आया था। मुझे इतनी-सी याद है कि उपस्थिति बहुत कम थी। राहुल जी ने जो विषय चुना था, वह वैज्ञानिक विषय था। कई वर्षों तक वे भाषण नहीं छपे, तो राहुल जी पुनः कह रहे थे कि विज्ञान इतनी तेजी से बदल रहा है कि भाषण दुबारा सुधारकर लिखने होंगे।

इलाहाबाद में मैं यहाँ की आकाशवाणी के आरम्भ १६४८ से १६५२ तक रहा हूँ। आज जो अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकार इस नगरी में हैं या इस नगरी से साहित्यिक जीवन आरम्भ कर बाहर प्रतिष्ठित होते गये हैं, उन दो पीढ़ी के पचासों लेखकों, कवियों, उपन्यासकारों, समीक्षकों को मैंने बहुत निकट से देखा है। उन्हें विक्षिप्त और मौन होते हुए भी देखा है। अनेक मतान्तर करते हुए देखा है। अपने-अपने छोटे-छोटे गुट और मठ बनाते हुए, और उसके बाद बेहद अकेले पड़ते हुए भी देखा है। यों यह नगर हिन्दी-समाज और साहित्य का एक 'मिनियेचर' मानचित्र है। वैसे भी समूचे हिन्दी

साहित्य में वाराणसी और प्रयागराज, मथुरा और गया, उज्जैन और हरिद्वार जैसे तीर्थस्थानों का बड़ा महत्त्व रहा है। हिन्दीभाषी राज्यों के शक्ति-केन्द्र लखनऊ, दिल्ली, पटना, जयपुर, भोपाल, शिमला, चण्डीगढ़ बाद के दरबारी केन्द्र रहे हैं। आलोचना दोनों की होती रही है। डॉ० लोहिया के शब्दों में गांधीवाद भी 'मठी, सरकारी और कुजात' खेमों में बँट गया। कहावत है कि 'यथा प्रजा तथा राजा' (वी गेट दि रूलर्स अँज़ वी डिज़र्व)। साहित्य में भी जैसे लेखक, वैसे समालोचक। कहीं-कहीं तो बुरे कवि समालोचक होते जाते हैं और बुरे समालोचक कभी-कभी अच्छे रचनाकार। दोनों शक्तियों में परस्पर विरोध या शत्रुता नहीं है, जैसे हमारे कुछ पाठक या प्राध्यापक मान बैठे हैं। आस्कर वाइल्ड का कहना है कि 'दि हाइएस्ट क्रिटिसिज्म इज़ मोअर क्रिएटिव दैन क्रिएशन" (सर्वोत्तम आलोचना रचना से भी अधिक रचनाशील होती है)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'जन्म-शताब्दि-वर्ष' में उन्हीं के एक वचन से यह चर्चा आरम्भ करना चाहता हूँ। 'काव्य में रहस्यवाद' (चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६३) में वे लिखते हैं—"न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना (जुडिशियल क्रिटिसिज्म) और रुचि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा, दोनों आवश्यक हैं। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है, दूसरी निष्क्रिय।"

आचार्य लोगों से असहमत होना खतरे से खाली नहीं होता। फिर भी मेरे व्यक्तिगत और शायद राष्ट्र के भी बहुमत के अनुसार स्त्री बहुत निष्क्रिय शक्ति है, ऐसा मानना कठिन है। वैसे समीक्षा, आलोचना, टीका, सम्मति सभी शब्द, हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल, स्त्री-लिंगी हैं और मैं अपने भाषण में भी 'उग्र'-वादी नहीं हूँ, न होना चाहता हूँ। 'कांतासंमित तयोपदेशयुजे'—का ही प्रयोग करूँगा। अहिंसा की सर्वत्र विजय होती है, ऐसा मानता आया हूँ।

व्यक्तियों से अधिक प्रवृत्तियों की चर्चा इन भाषणों में होगी। जो व्यक्ति जीवित नहीं हैं, उनके नाम मैंने अवश्य लिये हैं। पर

वर्तमान लेखकों, समालोचकों का और नामोल्लेख करके मैं भाषण को अधिक विवाद्य और रोचक बना सकता था। पर मेरी औरों के चेहरे टटोलने, बेनकाब करने या इस तरह की फतवेबाजी में कोई रुचि नहीं है। 'निंदक नियरे राखिये', 'निंदक बाबा बीर हमारा' आदि संत-वचन मैंने सुने हैं। आजकल तो 'संत' शब्द भी काफी विस्फोटक बन गया है। कालिदास के समय संत दूध और पानी अलग करते होंगे, परीक्षा करने में पटु होंगे। आजकल तो परप्रत्ययनेयबुद्धि ही अधिक हैं। 'ऐसी मूढ़ता या मन की' का पुनरुच्चार ही जनतंत्र में उत्तम है। बहुसंख्यक जहाँ अपने को सयाने समझते हों, वहाँ साहित्य में भी आलोचना बहु मतानुयायी (वोक्स पौप्युली) होती जाती है। चार लोगों ने मिलकर तय कर लिया कि 'क्ष' को उछालना है, महा-कवि, महानाटककार, महाउपन्यासकार बना के छोड़ना है। तो विज्ञापन-बहुला व्यवसायात्मिका बुद्धि क्या-क्या चमत्कार नहीं कर सकती। यह बात दूसरी है कि वह सब ढोल पीटना, बहुत थोड़े समय में, नशे की तरह उतर जाता है। सच्ची और प्रामाणिक बातें ही अधिक समय तक टिकती हैं। गये पचास वर्षों का हिन्दी आलोचना का इतिहास इसका साक्षी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'पाखण्ड प्रतिवेध' नामक 'मधुस्रोत' (१९७१) में संकलित १९०१ की एक कविता में लिखा था—

पूरब में शुद्ध रूप था यह यहाँ, वहाँ
पच्छिम में पहुँचा पखण्ड के प्रमाद तक;
अंगल की भूमि बीच ब्लेक ने जो ढोंग रचा,
देखते हैं आज यहाँ उसी की है चढ़ी झक।
जूठा औ पुराना यह पच्छिमी पखण्ड लेके,
होती है नवीनता की डींग भरी बक-बक;
योरप के किसी किसी क्षेत्र में रहे तो रहे,
रोकना है किन्तु, यहाँ इसे आज भरसक। (८५)
भाषा है न भाव है, न भूति भाँपने को आँख,
शिक्षा की सुभिक्षा भी न पाई कभी एक कन;
गाँथते हैं गर्व भरी गुरु ज्ञान गूदड़ी वे
चुने हुए चीथड़ों से, किए ब्रह्म लीन मन।

कहीं बंग-भंग पद चकती चमक रही,
कहीं अंगरेजी अनुवाद का अनाड़ीपन;
ऐसे सिद्ध साँइयों की माँग मतवालों में है
काव्य में न झूठे स्वाँग खींचते कभी हैं मन। (८६)

इन खरी-खरी बातों से आरम्भ करने का आशय यही है कि इस विषय पर हम वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार करें। निरी भावुकता से या पूर्वग्रह-दूषित दृष्टि से इस विषय को न देखें। सबसे पहले 'हिन्दी आलोचना' के अतीत का सर्वेक्षण आवश्यक है। वैसे तो 'शिवसिंह-सरोज', 'मिश्रबंधु विनोद', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पुंड या पुष्य को हिन्दी का प्रथम समालोचक कहा गया है। सातवीं शती के इस आदि कवि के बारे में कोई सामग्री नहीं मिलती, न उनकी जीवनी, न रचना के बारे में कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अतः हम यह जानकर चलें कि जिसे सचमुच आधुनिक दृष्टि से आलोचना की पुस्तक कहा जाये, वह हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'नाटक' नामक निबन्ध है जो १८८३ में लिखा गया। यों हिन्दी आलोचना की पूरी आयु सौ वर्ष से अधिक की नहीं है।

भारतेन्दु-युग में समालोचना की तीन परिपाटियाँ प्रचलित थीं—

(१) पिंगल, अलंकार, रस, नाटक, सम्पूर्ण काव्यशास्त्र आदि सभी विषयों पर लक्षण-ग्रन्थों की रचना, यथा ज्वालास्वरूप का 'रुद्र पिंगल' (१८६६), उमराव सिंह का 'छन्द महोदधि' (१८७८), जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'छन्द प्रभाकर' (१८९४), जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' का 'घनाक्षरी नियम-रत्नाकर' (१८९७) छन्दशास्त्र पर ग्रन्थ हैं, तो लछिराम का 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८९२), बिहारीलाल का 'अलंकारादर्श' (१८४७), मुरारिदान कविराज का 'जसवंत-जसो-भूषण' (१८९७) अलंकार-ग्रन्थ थे। कृष्णलाल का 'रससिंधु-विलास' (१८८३), साहबप्रसाद सिंह का 'रस-रहस्य' (१८८७) और प्रताप-नारायण सिंह का 'रसकुसुमाकर' (१८९४) रस-ग्रन्थ थे। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र पर एक ग्रन्थ जानकीप्रसाद का 'काव्य-सुधाकर' (१८८६) भी था। पर भारतेन्दु ने पहली बार प्राचीन नाट्यशास्त्र की जानकारी ही नहीं दी, पर उसके पुराने नियमों से छूट लेने की आवश्यकता तर्क-संगत ढंग से प्रस्तुत की।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी आलोचना का दूसरा बड़ा अच्छा रूप पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गम्भीर आलोचनाएँ हैं। 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७ से १६१०) में ऐसी समालोचनाएँ लिखी गयीं। इस तरह के लेखकों में बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द-कादंबिनी' में प्रकाशित श्रीनिवासदास की 'संयोगिता-स्वयंबर' और गदाधर सिंह की 'बंग-विजेता' के अनुवाद की विस्तृत समालोचनाएँ हैं। बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस तरह की समालोचनाओं की परम्परा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर आगे बढ़ाई। उस समय की समालोचना की शैली कैसी होती थी, इसके कुछ उदाहरण सुनिये—

भारतेन्दु का एक तथ्य-निरूपणात्मक उद्धरण सुनिये—

"ये जाति के ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम बाबा रामदास जी था जो गाना बहुत अच्छा जानते थे। और कुछ धुरब पद इत्यादि भी जानते थे और देहली या आगरे या मथुरा इन्हीं शहरों में रहा करते थे और उस समय के नामी गुनियों में गिने जाते थे।"

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' सीधी-सच्ची बात न कहकर उसे बहुत संस्कृतबहुल भाषा में शैली को कलात्मक बनाने की कृत्रिमता लिये हुए लिखते थे, जैसे—

"धन्य धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानन्द घन को कि जिसकी कृपा वारि-विंदु वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मन मयूर उत्साह आलंबन कर आनन्द-कादंबिनी के आनन्द विस्तार लालिमा से थिरकने लगा और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चहुँकार चली कि मेरे प्यारे रसिको! आओ आज के समागम में चिर वियोग दुःख को भूलें और बहुत दिनों से मानवता बैठी वार्ता बधूटी के आरंभ घूँघट को खोल उसके आनन्दमय स्मित का सारस्य अनुभव करें।"

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु या 'प्रेमघन' से अपना अलग अंदाज़ रखते थे। उनका यह एक गद्य का नमूना इलाहाबादवासियों को अब भी बासी नहीं लगेगा, ऐसा विश्वास है—

"दूर-दूर के लोग यही समझते होंगे कि रौनक में इलाहाबाद कलकत्ता, बम्बई के टक्कर का होगा क्योंकि यह भी एक तरह पर प्रेसीडेंसी टौन है: पश्चिमोत्तर की राजधानी है। हाईकोर्ट यहाँ है और

हर महकमे के अलग दफ्तर सब यहाँ मौजूद हैं। पर हम आँख फैलाय देखते हैं तो भंगार लोट रहा है, सब ओर मसान छाया हुआ है।''

अब आगे बढ़ने से पहले हिन्दी आलोचना के 'अतीत' की चर्चा के इस आरम्भ-विन्दु या उत्स को हम न भूलें। बेनेदेत्तो क्रोचे ने लिखा है कि ''यू कैन ओनली एक्स्प्लेन दि पास्ट बाई ह्वाट इज हाइएस्ट इन दि प्रेजेन्ट'' (आप अतीत को आज जो कुछ सर्वोत्तम शेष है, उसी के द्वारा समझा सकते हैं।)

भारतेन्दु-युग की आलोचना की विशेषता यह थी कि उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ठाकुर, कायस्थ सभी तरह के लेखक उदार मत से परस्पर चुहल, हँसी-ठट्ठा, मजाक करते थे। साहित्य-संसार एक मिला-जुला छोटा-सा संयुक्त परिवार-जैसा संसार था। वैसे ही पढ़े-लिखे लोग तब कम थे। खरीद कर पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने वाले और भी थोड़े ही थे। स्कूल, कॉलिज, युनिवर्सिटियाँ और हिन्दी अध्ययन-अध्यापन परीक्षाएँ और डिगरियों का ऐसा घटाटोप आलजाल कम था। जीवन सुस्थिर था और एक तरह की धार्मिक आस्था सब में संव्याप्त थी। साहित्य स्वाध्याय और स्वानन्द का विषय माना जाता था। प्रायः सभी लेखक परंपरागत ढंग से संस्कृत जानते थे, भक्ति कविता में सराबोर थे। कुछ थोड़े-थोड़े लोग अंग्रेजी पढ़ने लगे थे। अंग्रेजी का प्रभाव बाँग्ला और उर्दू की मार्फ़त आने लगा था। इस सब का असर आलोचनात्मक दृष्टि पर पड़ता है।

'आलोचन' शब्द में ही पूरी तरह से, अच्छी तरह से, दूर से या ऊपर से देखना है। हम यह मानकर चलते थे और कि देखना एक स्वाभाविक सहज क्रिया है। आँखें खोलीं और देख लिया। पर न सबकी आँखें एक-सी होती हैं; न जो देखा जा रहा है, वही सब देखने लायक होता है, या पूरी तरह दिखाई ही देता है। हम सब जल्दी-जल्दी में, सतही, ऊपरी-ऊपरी ढंग से बहुत-सा देखते जाते हैं। कई चीज़ों का आँख पर ही असर नहीं पड़ता, मन पर दूर की बात है। तो हर देखना आलोचन नहीं है। वैसे ही यह मानना भी गलत है कि केवल देखना तटस्थ हो सकता है। हर देखना एक तरह का मूल्यांकन भी होता है। बच्चा भी देखते ही पहचान लेता है कि कौन है अपना प्रिय, कौन अप्रिय ? कई लोगों की दृष्टि में छलनी लगी रहती है। वे

उतना ही देखते हैं जितना उनके लिए जरूरी होता है । कई लोगों की आँखें ढाल या अस्त्र का काम करती हैं। पुराणों में कहा गया है, उसने क्रोध से जलती हुई आँखों से देखा और शत्रु को भस्म कर दिया । शिवजी की तीसरी आँख की तो बात ही छोड़ दीजिये । स्त्रियों की दृष्टि सदा 'डिफेंसिव' (सुरक्षा-शोध की) या वात्सल्यपरक होती है, ऐसा मनोवैज्ञानिकों ने दृष्टिपात कर सूक्ष्म विवेचन किया है । यहाँ हम विटिगेनस्टाइन की सीमा तक तो नहीं जायेंगे कि साधारण वाक्य, जैसे—'यह दीवार है' या 'यह दीवार सफेद है'—इसमें भी मूल्यवत्ता खोजें; या उसके सन्दर्भ को ध्यान में रखकर कहें कि बर्लिन की दीवार या चीन की दीवार के पास खड़े होकर जब वाक्य कहा जाये कि 'यह दीवार है', तो उसके अर्थ बदल जाते हैं । और मर्मी महाकवि ज्ञानेश्वर ने दीवार को अपनी वाणी से हिला दिया, तब 'यह दीवार है ?' प्रश्नवाचक का अर्थ ही दूसरा बन गया था । आपके और मेरे बीच में एक अदृश्य दीवार है, ऐसा जब मैं कहता हूँ तो दीवार मुहावरेदार बन जाती है और कवि जब कहता है कि "स्टोन वाल्स डू नाट मेक प्रिजन" (पत्थर की दीवारों से ही बंदीगृह नहीं बनता); तब उसका अर्थ दूसरा ही होता है । 'दीवार' तो मैंने एक उदाहरण के तौर पर आपके सामने रखा । आज की आलोचना तो बिना दीवारों वाला घर बन गयी है ।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि किसी भी साहित्य के इतिहास में समालोचना का आरम्भ और विकास सचेतन रूप से नहीं होता । हिन्दी के आरम्भिक गद्य-लेखकों के सामने संस्कृत काव्यशास्त्र थे, कुछ लोगों ने अंग्रेजी पढ़नी भी आरम्भ कर दी थी । परन्तु कोई स्पष्ट रूप उस समय तक नहीं था कि हिन्दी की अपनी कोई स्वतंत्र आलोचना विकसित की जाये । कोई न कोई एक सामान्य आदर्श सामने रखकर पत्र-पत्रिकाओं में या पुस्तकाकार आलोचना लिखी जाती थी । या तो किसी ग्रन्थ की 'टीका' की जाती थी, या 'लक्षण-ग्रन्थ' लिखे जाते थे, या किसी पुस्तक पर सम्मति दी जाती थी, गुण-दोष-विवेचन होता था । सब में उद्देश्य लेखक और पाठक के बीच एक तरह की सहृदयता को बढ़ावा देना था । एक सुबुद्ध, मताग्रह से मुक्त रसज्ञ वाली भूमिका थी । कहीं-कहीं भावोच्छ्वासित होकर

समालोचक चाहता था कि पाठक भी उसी जगह 'वाह्-वाह्' कहे, 'दाद' दे, या उससे उलटे भर्त्सना करे, जहाँ वह स्वयम् भाव-प्रभाव में अपनी बात व्यक्त कर रहा होता था। अभी तक समालोचना रचना के पीछे-पीछे चलती थी, बल्कि उसका काम ही एक तरह का पैमाइशी का काम था। मानचित्र बनाना या सर्वेक्षण करने जैसा काम। आज भी हिन्दी में लिखी जाने वाली आधी से अधिक तथाकथित समालोचना इसी तरह परिचयात्मक सामग्री जुटाने और देने वाली समालोचना है। इस तरह के अनंत उदाहरण हमारे शुक्लोत्तर और परवर्ती आलोचना-साहित्य में मिल जायेंगे जिन्हें हम भूल से 'आलोचना' मान रहे हैं। उनमें कई तो केवल ग्रन्थ और तिथि-तथ्यों के सूचना-संग्रह, मात्र कुंजियाँ या परीक्षा पास होने के नुस्खे के ढंग पर लिखी गयी आलोचनाएँ होती थीं और हैं। 'अमुक अमुक : एक अध्ययन', 'फलाँ फलाँ ग्रंथ : सरल-बोध' या विशिष्ट लेखक पर दस विभिन्न आलोचकों के लेख-संग्रह का संपादन आदि इसी कोटि में आते हैं। केवल 'साहित्य-संदेश' आदि की परम्परा के या लाला गुलाबराय के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की कोटि के और उनके शिष्यों और प्रशिष्यों की परम्परा काफी बड़ी है, ग्रन्थ ही नहीं, शोध-ग्रन्थ भी हैं। और वे चाहे साहित्य-शिक्षण-व्यवसाय में बहुत उपयोगी हों—यहाँ इन व्याख्यानों में उनकी चर्चा व्यर्थ है। उनमें एक तो मौलिकता नहीं; दूसरे वे चों-चों के मुरब्बे की तरह सिर्फ 'एक्लेक्टिक' किताबें हैं--आलोचक की स्वतंत्र दृष्टि का उनमें अभाव है।

इस तरह की अध्यापकीय समीक्षा—सुरक्षित समीक्षा—जिसमें 'यह भी सही, वह भी सही', 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' होती रही है, इसकी परंपरा भी हमारी आलोचना में बहुत आरम्भ से है। द्विवेदी-युग में आकर इस निरी टीका या तथ्य-संग्रह वाली आलोचना में कुछ निर्णयात्मक, मूल्यांकनात्मक प्रयत्न आरम्भ हुआ। इसी समय तुलनात्मक समालोचना का भी विकास हुआ। १९०७ में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना की। १९०८ से १९१२ तक की 'सरस्वती' में वे संस्कृत व हिन्दी कविता के बिंब-प्रतिबिंब भाव की परीक्षा प्रकाशित करते रहे। लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' की विस्तृत तुलनात्मक समीक्षा की। खण्डन-

मण्डनात्मक तर्क पेश किये गये। दोनों में कौन-सा कवि श्रेष्ठ है, यह निर्णय देने का काम आलोचकों ने अपने ऊपर ले लिया। इस तरह के विवाद तब से हिन्दी में चल रहे हैं। बाद में निराला और पंत की या प्रेमचन्द और प्रसाद की, आजकल 'अज्ञेय' और मुक्तिबोध की कविता की तुलना करने का मोह कई आलोचकों को हुआ और हो रहा है। यहाँ तक कि महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल की, रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की भी तुलनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। यह एक और विषय है जिसकी ओर मैं अभी केवल इशारा कर रहा हूँ। वर्तमान आलोचना के सिलसिले में मैं इस तरह की साहित्यिक तुलना की सीमा और सामर्थ्य की चर्चा बाद में करूँगा।

शोधपरक आलोचना 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के आरंभिक अंकों में, चंद्रधर शर्मा गुलेरी के जयपुर से निकले 'समालोचक' में आलोच्य लेखक या कवि, ग्रंथ या रचना, काल या प्रवृत्ति पर गहराई से विचार करने लगी। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि अब साहित्य-कर्म केवल संस्कृत पंडित या शौकीन रईस या साहित्य के अध्यापक-वर्ग तक सीमित नहीं था। भाषाविज्ञान, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, कला, इतिहास आदि विभिन्न विद्या-शाखाओं से आने वाले कई तरह के समालोचक हिन्दी में आने लग गये। उनकी नामावली ही दें तो पचासों विद्वज्जन द्विवेदी-युग में दिखाई देंगे। सुधाकर द्विवेदी और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पारसनाथ त्रिपाठी, मुकुन्दीलाल वर्मा, सिद्धेश्वर वर्मा, संतराम बी० ए०, सत्य-देव परिव्राजक, संपूर्णानन्द, काशीप्रसाद जायसवाल, राहुल सांकृत्यायन, वासुदेवशरण अग्रवाल, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, शालिग्राम द्विवेदी जैसे कई नाम सहज याद आते हैं। जहाँ साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ कलकत्ता, कानपुर, खण्डवा, प्रयाग, जयपुर, शाहाबाद, पटना से प्रकाशित होने लगीं—समालोचना का विस्तार और बढ़ा। 'सरस्वती', 'समालोचक', 'इंदु', 'प्रभा', 'पाटलिपुत्र' का योगदान हम भुला नहीं सकते, जो १९०० से १९१८ तक बराबर प्रकाशित होने लगी थीं। लोकमान्य तिलक ने १९०८ में अपने पत्र केसरी' के 'हिन्दी केसरी' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया था।

इसी समय एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति जो बढ़ी जिसको लेकर आज भी हिन्दी-जगत् में काफी विवाद और पक्ष-विपक्ष है—वह है कृती कवियों और साहित्यकारों द्वारा समालोचना भी लिखना। स्पष्टतः दो मत थे : गुरु आलोचना वाले कहते थे कि कविजन या रचनात्मक लेखक तो पूर्वाग्रह-दूषित होते हैं, वे कैसे वस्तुनिष्ठ आलोचना लिख सकते हैं ? 'निज कवित्त केहि न लाग न नीका'। कूँजड़ी अपने बेर को खट्टा नहीं बताती। यह तो सब आत्मकेन्द्रित समालोचना है। एक तरह का अधिसूक्ष्म 'एडवर्टाइजमेण्ट फॉर माइसेल्फ' (सोमरसेट मौम) है। दूसरी ओर कवि, कथाकार, नाटककार वर्ग का यह मंतव्य था कि आलोचना क्या रचनाधर्मिता से कटी हुई चीज है? 'जाके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई।' सारी आलोचना जो रचनात्मकता से नहीं उपजी है, वंध्या है, या निरी शुष्क शल्यक्रिया है। रचना एक 'भोगा हुआ यथार्थ' है, एक प्रक्रिया है और उसमें ग्रहण और त्यजन सन्निहित हैं। कुछ लोगों ने कहना शुरू किया—हमें आलोचक न्याय नहीं देते। अतः हम अपना समर्थन स्वयम् लिखेंगे। वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका के वज़न पर पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका लिखी। 'निराला' ने ताल ठोंककर 'मेरे गीत और मेरी कला' लिखी। बाद में सिलसिला चल पड़ा। 'प्रसाद' की 'काव्यकला और अन्य निबन्ध' है। महादेवी जी की साहित्य-विषयक निबन्धों की पुस्तक है। माखनलाल जी ने तो गद्य-काव्य के ढंग से 'साहित्य देवता' ही लिखा। फिर हर बड़े, छोटे कवि का अपना 'मैनिफेस्टो' छपने लगा। नलिन जी ने तो 'नकेन की पस्पशा' लिखकर कमाल ही कर दिया। शमशेर ने 'दोआबा' लिखा, अज्ञेय ने 'आत्मने पद', गिरिजाकुमार माथुर ने 'नई कविता' पर पुस्तक लिखी। मुक्ति-बोध ने तो कई किताबें 'नये सौन्दर्यशास्त्र' और 'सृजन के तीसरे क्षण' पर लिखीं। नेमिचन्द्र ने 'अधूरे साक्षात्कार', भारती ने 'प्रगतिवाद', नरेश मेहता ने 'वैष्णवी चेतना', वीरेन्द्रकुमार ने 'सनातनी सूर्योदय', जगदीश गुप्त ने 'नई कविता' के संपादकीय आदि-आदि। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद का सारा युग इसी 'कुछ दिन गीतों के/कुछ दिन फेरी के' में बीता। उसे समर्थन दिया गया—'हमें अपना सलीब खुद ढोना पड़ता है।' भोक्ता और स्रष्टा का अंतर यार लोग भूल गये।

इस चक्कर में कई लोग अच्छी खासी कविता लिखते थे, उन्होंने कविता लिखनी छोड़ दी, आलोचना ही लिखने लगे। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कविताएँ लिखी हैं। पर हजारीप्रसाद तो चार उपन्यास भी दे गये। और लोग कविता की 'वनबाला' के संग 'रसतरङ्ग' और 'एकांत' भूल गये—शुद्ध आलोचक बन गये। वियोगी हरि जी कभी 'वीर-सतसई' लिखते थे, कौन जानता है। वे गांधीवादी निबन्धकार हो गये। कुछ लोग दोनों काम करते रहे। रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' भी लिखा, एकांकी और नाटक भी लिखते रहे। मेरी इच्छा यहाँ सब नाम गिनाने की नहीं है। पर इसी इलाहाबाद में विजयदेवनारायण साही हुए जिनकी कविता भी अपने ढंग की थी, आलोचना भी अपने ढंग की अलग पहचान बनाने वाली। ऐसे भी कुछ लोग हुए। हाली के 'मुकदमा-ए-शेरो-शायरी' और ड्राइडेन के 'ऑन डिफेन्स ऑफ पोएट्री' के बाद, यह प्रक्रिया सारे भारतीय साहित्य में दिखाई देती है। इसके बारे में एक नियम नहीं बनाया जा सकता। किसी-किसी में अधिक ऊर्जा होती है। वे सव्यसाची होते हैं। कुछ इकसुरिये होते हैं।

आधुनिक भारतीय साहित्य का साक्ष्य है जो कि मैं अपने तीसरे भाषण में विस्तार से बताऊँगा कि कई अच्छे कवि और कथाकार, उपन्यासकार उत्तम आलोचक भी हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'साहित्य' और 'लोक-साहित्य' पर निबन्ध या बुद्धदेव वसु की कविता और आलोचना बाँग्ला में देखें; या मराठी में तांबे या मर्ढेकर की कविता और आलोचना; या तमिल में सुब्रह्मण्य भारतीय या मु० वरद राजन की कविता और आलोचना; मलयालम में जी० शंकर कुरुप या सरदार पणिक्कर की, कन्नड़ में द० रा० बन्द्रे या 'कुवेंपु' की, या गुजराती में उमाशंकर जोशी या सुरेश जोशी की, उर्दू में हाली या इकबाल की, पंजाबी में भाई वीरसिंह या प्रो० मोहन सिंह की रचना और समीक्षा का उल्लेख पर्याप्त होगा। सृजन और समालोचन में एक-से पटु कुछ लेखक सभी भाषाओं में मिलते हैं।

फिनलैंड के एक संगीतकार ज्याँ सिबोलियस ने कहा था कि 'नो स्टैचू वाज़ एवर रेज़्ड टु ए क्रिटिक' (किसी समालोचक की

प्रतिमा स्थापित नहीं की गई)। खैर, वाराणसी में रामचन्द्र शुक्ल की आवक्ष प्रतिमा का अनावरण गत शरत्पूर्णिमा को डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' कर आये। और हिन्दी में तो महावीरप्रसाद द्विवेदी की भी प्रतिमा रायबरेली में लग चुकी। और भी कई उदाहरण होंगे। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में समालोचक कोई बहुत प्रिय व्यक्ति न हमारे यहाँ माना गया, न विदेश में। कीट्स जैसे सुकुमार कवि की तो 'ब्लैकवुड मैगजीन' की क्रूर आलोचना से अकाल मृत्यु हो गयी। विदेश का भी ऐसा साक्ष्य है कि कई महाकवियों ने और लेखकों ने उत्तम रचना और आलोचना साथ-साथ की है। गोएटे हों या पाल वालेरी, वर्जिनिया वूल्फ हों या मैक्सिम गौर्की, विटमैन हों या लौवेल, डी० एच० लारेंस हों या मार्सल प्रूस्त, टी० एस० इलियट हों या येट्स, सार्त्र हों या व्लादीमीर सोलोव्योव (१८५३-१९००) सब देशों और भाषाओं में ऐसे 'सव्यसाची' मिल जायेंगे।

हिन्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने समालोचना के क्षेत्र में व्यवस्थापन और अनुशासन लाने का प्रयत्न किया। पत्रकारिता और समालोचना को उन्होंने एक ही दृष्टि से देखा। उन्होंने समालोचक के कर्तव्य निर्धारित करते हुए लिखा—"किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।" इसी समय पाश्चात्य आलोचनात्मक कृतियों के अनुवाद भी होने शुरू हुए। जैसे जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'समालोचनादर्श' नाम से १८९७ में अलैक्सैंडर पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया। सन् १९०५ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एडिसन के 'एसे ऑन इमैजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया। अन्य भारतीय भाषाओं के आलोचात्मक लेखन का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ने लगा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी मराठी उत्तम जानते थे। बाद में रामचन्द्र वर्मा ने मराठी से अनुवाद किये। हरिभाऊ उपाध्याय ने भी साने गुरु जी की 'भारतीय संस्कृति' का अनुवाद किया। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' आलोचक थे, परन्तु उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और रमेशचन्द्र

दत्त के बाँग्ला उपन्यासों के अनुवाद किये। स्वयम् रामचन्द्र शुक्ल ने राखालदास बंद्योपाध्याय के बाँग्ला ऐतिहासिक उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद किया। और यह सिलसिला आगे भी चलता रहा। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई कविताओं और 'रक्तकरवी' नाटक का अनुवाद किया।

इस शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों में हिन्दी आलोचना की तीन प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं : एक, प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का निरूपण या उस पर आधारित व्याख्यान; दूसरी, पश्चिम के, विशेषतः अंग्रेजी के द्वारा प्राप्त समालोचना-सिद्धान्त और पद्धतियों का विचार; और तीसरी, इन सिद्धान्तों को किसी विशिष्ट रचनाकार की कविता पर घटित करना। इन तीनों के उत्तम उदाहरण निम्न तीस ग्रंथों में मिल जायेंगे। ये ग्रंथ मैंने १९१९ से १९३८ तक की अवधि में से छाँट हैं :

	सन्	समालोचक	ग्रन्थ
१.	१९१९	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	रस-रत्नाकर
२.	१९२०	गुलाबराय	नवरस
३.	१९२२	श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन
४.	१९२३	कन्हैयालाल गुप्त	चरित्रचित्रण
५.	१९२३	रामचन्द्र शुक्ल	तुलसी ग्रंथावली (भूमिका)
६.	१९२४	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	काव्यांग-कौमुदी
७.	१९२४	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	विश्व-साहित्य
८.	१९२५	रामचन्द्र शुक्ल	जायसी-ग्रंथावली (भूमिका)
९.	१९२६	रामचन्द्र शुक्ल	भ्रमरगीत-सार (भूमिका)
१०.	१९२७	भगवानदीन	व्यंगार्थ-मंजूषा
११.	१९२९	रामचन्द्र शुक्ल	हिंदी साहित्य का इतिहास
१२.	१९२९	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	अलंकार-पीयूष
१३.	१९३०	ब्रजरत्न दास	हिन्दी नाट्य-साहित्य
१४.	१९३०	ब्रजरत्न दास	नाट्य-निर्णय
१५.	१९८०	अर्जुनदास केडिया	भारती-भूषण
१६.	१९३१	किशोरीदास वाजपेयी	रस और अलंकार
१७.	१९३२	श्यामसुन्दर दास	रूपक-रहस्य

१८.	१९३३	कृष्णानन्द गुप्त	प्रसाद के दो नाटक
१९.	१९३४	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'	मीरा की प्रेम-साधना
२०.	१९३४	कन्हैयालाल पोद्दार	रसमंजरी
२१.	१९३४	अखौरी गंगाप्रसाद	पद्माकर की काव्य-साधना
२२.	१९३४	गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	महाकवि हरिऔध
२३.	१९३५	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	रसकलश (भूमिका)
२४.	१९३६	लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यंजनावाद
२५.	१९३६	हजारीप्रसाद द्विवेदी	सूर-साहित्य
२६.	१९३७	पुरुषोत्तम लाल	आदर्श और यथार्थ
२७.	१९३८	विनोदशंकर व्यास	कहानी-कला
२८.	,,	रामकुमार वर्मा	साहित्य-समालोचना
२९.	,,	रामनाथ 'सुमन'	प्रसाद की काव्यकला
३०.	,,	डॉ० नगेन्द्र	सुमित्रानन्दन पन्त

यह सूची सर्वसमावेशक नहीं है, केवल नमूने के लिए प्रस्तुत की गई है। देश में सन् २० और ३० में इतने राष्ट्रीय आन्दोलन हुए, परन्तु हिन्दी-समालोचना उनसे प्राय बेखबर और असंपृक्त-सी रही, यह ध्यातव्य है।

वैसे तो रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबन्ध १९०८ की 'सरस्वती' में ही लिखा था और 'साहित्य' निबन्ध १९१४ की 'सरस्वती' में। परन्तु उनका सबसे बड़ा अवदान सेंट्सबरी के ढंग पर लिखा गया 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। हिन्दी साहित्य के और भी छोटे-बड़े इतिहास लिखे जा रहे थे, इसी तीसरे दशक में। इनका सम्बन्ध जातीय चेतना, अपनी भाषा और साहित्य के गौरवमय अतीत के प्रति विशेष अनुराग से है। अतः कुछ इस विषय की पुस्तकें देखें—

१९३०	श्यामसुन्दर दास	हिन्दी भाषा और साहित्य
१९३१	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	हिन्दी साहित्य का इतिहास
१९३३	ब्रजरत्न दास	हिन्दी साहित्य का इतिहास
१९३४	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास
१९३४	कृष्णशंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

१९३८ सूर्यकान्त शास्त्री — हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

१९४० हजारीप्रसाद द्विवेदी — हिन्दी साहित्य की भूमिका

हमारे यहाँ आलोचनात्मक दृष्टि को इतिहास के प्रति प्रशंसा, दृष्टि, विभूति-पूजा और जनपद-विशेष या प्रजाति-विशेष के प्रति अतिरिक्त मोह कई बार आविष्ट कर लेता है। कई निर्णय इसी कारण से एकांगी और अर्धसत्य-पोषक हो जाते हैं। अनेक समालोचकों में इसीलिए वह शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पूर्णतः विकसित नहीं हो पाती। मन के भीतर कहीं अचेतन सेंसर बैठा रहता है।

रामचन्द्र शुक्ल की जन्म-शताब्दि के वर्ष में उनके बारे में जो विविध संगोष्ठियाँ विश्वविद्यालयों में और साहित्य-संस्थाओं में आयोजित हो रही हैं, उनमें भी यही सभी तरह की पूर्वाग्रहयुक्त रंग-छटाएँ मिल जाती हैं। एक ओर उन्हें वेदांती, हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा को ही 'लोकमंगल' मानने वाला, परंपरावादी, शास्त्रीय आलोचक सिद्ध किया जा रहा है, तो दूसरे छोर पर उन्हें प्रगतिवादी, सामाजिक न्याय और समता का पोषक, हैवेल के अनुवादक के नाते प्रथम वैज्ञानिक भौतिकवादी और रहस्यवाद-विरोधी होने से यथार्थवादी व्यावहारिक समीक्षा का प्रतिमान बताया जा रहा है। "जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।"

परन्तु रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना को अवदान केवल उनके मत, विश्वासों की आत्यंतिकता में निहित नहीं है। उन्होंने समालोचना को व्यवस्थित, आधुनिक और तर्कसंगत दिशा दी, इसी में उनका बहुत बड़ा दाय समाहित है। उन्होंने साहित्य के इतिहास को जातीय चेतना के विकास को केन्द्र-विन्दु में रखकर देखा। एक ओर जहाँ हजारीप्रसाद जी द्विवेदी उनके बारे में कहते हैं कि—"आचार्य शुक्ल हिन्दी के गौरव थे। समीक्षा-क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था और न अब कोई उनके समकक्ष का आलोचक है," तो दूसरी ओर उनके शिष्यों ने ही उन्हें मध्यकालीन संस्कृति का हिमायती कहा। नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"शुक्ल जी के विचारों में हिन्दू समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। शुक्ल जी का वैष्णव-साहित्य का अध्ययन परम्परा-प्राप्त मान्यताओं

के अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने कृत्रिम विभेदों का आग्रह किया है और इसलिए काव्यालोचन में भी एक वर्ग को व्यर्थ नीचा देखना पड़ा है। और काव्यार्थ प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी शुक्ल जी की धारणा स्वतन्त्र रचना की हैसियत से समुचित हो सकती है, किन्तु कला की आलोचना में ऐसा कोई सिद्धान्त लागू नहीं होता।'' शिवदान सिंह चौहान ने उन्हें 'एकांगी दृष्टिवाला, तर्कशून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए अनपेक्षित पांडित्य-प्रदर्शन का रूपक रचने वाला' कहा है। मैं नहीं जानता कि प्रगतिवादियों की हिट लिस्ट में शिवदान सिंह चौहान का नाम है या नहीं, पर यह दो आत्यंतिक परस्पर-विरोधी मत इसी बात का द्योतन करते हैं कि हमारी साहित्येतिहास-दृष्टि अभी स्पष्ट नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद की सीमा और सामर्थ्य पर बहुत बेबाक वक्तव्य दिये हैं। मैं केवल एक उद्धरण देना चाहता हूँ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से (सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०२९ वि०, पृ० ४४४ पर)। सुनिये—

''कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम में लाए गये। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय-प्रवर्तन दिखाई पड़ा। पंत जी अलबत्ता प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाये गए।

दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गयी। नाना अर्थभूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया। प्रेमक्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पना की चित्रविधायनी क्रीड़ा के साथ प्रकाण्ड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा क्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर ललाई, हावभाव, मधुस्राव तथा अश्रु-प्रवाह, इत्यादिक रँगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अब तक पूर्ण

तृप्त दिखाई देते हैं। जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं है।

''खैरियत यह हुई कि कलावाद की उस रसवर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूति के रूप में किसी प्रकार का भाव जगाना तो वक्ताओं का काम है; कलाकार का काम तो केवल कल्पना द्वारा बेलबूटे या बरात की फुलवारी की तरह की शब्दमयी रचना खड़ी करके सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है।''

द्विवेदी युग और शुक्ल-युग के बाद हमें हिन्दी आलोचना के अतीत में छायावादी और प्रगतिवादी युग की चर्चा अवश्य करनी होगी। आरम्भ में ये दोनों वाद गड्डमड्ड थे। छायावादी युग के एक निरीह और दयनीय आलोचक जो गद्यकाव्यात्मक शैली में प्रभाववादी समीक्षा लिखते थे और जिनके संपर्क में मैं बहुत अधिक आया, उनका उदाहरण देना चाहता हूँ। वे थे श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी। उन्हीं के समान और समकालीन सुकुमार समालोचक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त की याद मुझे आ रही है। वस्तुतः प्रकाशचन्द्र जी का शान्तिप्रिय द्विवेदी की प्रशंसा में एक निबन्ध है जो उनके 'नया हिन्दी साहित्य' में सन्निहित है। वह पठनीय है। इन दोनों आलोचकों की अपनी कमजोरियाँ थीं जो उनकी आलोचना-दृष्टि में भी उभरकर आती हैं। आज उन दोनों की कई समीक्षाएँ बहुत सार्थक शायद न लगें, फिर भी उनका एक ऐतिहासिक महत्त्व है।

यही समय था जब देश में एक नई विचारधारा का उदय हो रहा था। एक तरह का नव-जागरण हिन्दी और भारतीय साहित्य में आ रहा था। रोमैंटिक रिवोल्यूशनरी ऐसी परस्पर-विरोधी मिश्रित शब्दावली में उसकी परिभाषा की जा सकती है। मैं यहाँ आपकी अनुमति से अपनी व्यक्तिगत आलोचना-दृष्टि के विकास और लेखन की बात करूँगा। चूँकि १९३४ को आज पचास वर्ष बीत चुके हैं और मेरे तब के लेख केवल मेरी स्मृति में हैं—कई अब उपलब्ध भी नहीं हैं। आप कृपया इसे तटस्थ इतिहास का अध्याय मानें और आत्मश्लाघा के तौर पर न लें। सत्रह वर्ष की आयु में मैं इन्दौर क्रिश्चियन कालेज से इतिहास और दर्शन और अंग्रेजी साहित्य से

बी० ए० करके आगरा कालेज, आगरा में एम० ए० (दर्शन) और एल-एल० बी० पढ़ने के लिए आया। बी० ए० में नीत्शे और गांधी मेरे विशेष अध्ययन के विषय थे। घर से मैं संस्कृत, मराठी आदि काफी पढ़कर १९३५ में नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा से 'साहित्यरत्न' की परीक्षा में बैठा और मैंने प्रथम स्थान प्राप्त किया। रामवृक्ष बेनीपुरी और गोपालसिंह नेपाली तब खण्डवा की 'कर्मवीर' और रतलाम की 'पुण्य भूमि' पत्रिकाओं में संपादक थे। मैंने पत्र-पत्रिकाओं में लिखना बस शुरू ही किया था। पहली मराठी कविता 'काव्य-रत्नावली' मासिक पत्रिका में १९३४ में और उसी वर्ष माखनलाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर' में हिन्दी कविता छपी। उसी समय प्रेमचन्द ने 'हंस' में मेरी कहानी छापी और 'नीर-क्षीर' नामक हंस के कालम में मराठी, गुजराती आदि से अनुवाद मैं छपाने लगा। गोर्की की मृत्यु पर 'कर्मवीर' में और आगरा के 'गणेश' में 'गोर्की और प्रेमचन्द के अवसान पर' टिप्पणी लिखी। 'माधुरी' में रूपनारायण पाण्डेय ने 'वह विक्षिप्त दार्शनिक नीत्शे' १९३५ में लेख छापा। निराला जी तब 'सुधा' का संपादन देखते थे। उन्होंने 'नृत्य-कला में मनोविज्ञान' मेरा लेख प्रथम स्थान पर प्रकाशित किया। सन् ३४ के इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मैं वालंटियर था—गांधी जी, संपूर्णानन्द, महादेवी वर्मा के तब प्रथम दर्शन किये। सन् ३५ में इन्दौर में ही हुए मराठी साहित्य सम्मेलन के साहित्य विभाग में 'साहित्यातीत ललितकला भाव' नामक मेरा पच्चीस पृष्ठों का आलेख प्रकाशित हुआ जिसकी प्रशंसा श्री-नां बनहट्टी (साहित्य विभाग के अध्यक्ष) ने की। मेरी समालोचनात्मक लेखन की ओर रुचि बढ़ती गयी। १९३७ में नाथूराम प्रेमी ने मुझसे 'जैनेन्द्र के विचार' संपादित कराया और उसकी विस्तृत भूमिका और नोट्स मैंने लिखे। यह हुआ हमारी आलोचनात्मक दृष्टि के विकास का एक बिन्दु। बाद की सारी कहानी मैं नहीं सुनऊँगा—'व्यक्ति और वाङ्मय', 'संतुलन', 'समीक्षा की समीक्षा', 'भारत और एशिया के साहित्य', 'हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबन्ध', 'हिन्दी निबन्ध', 'नाट्य-चर्चा', 'मराठी साहित्य की कहानी', 'हिन्दी साहित्य', 'कबीर', 'राहुल सांकृत्यायन' आदि मेरी कुछ किताबें भी हैं जो १९५२ से ८२ तक के अंतराल में छपती रही हैं।

लेख और छिटपुट समालोचनाओं की चर्चा मैं नहीं करता। वे अब हजारों पृष्ठों से अधिक हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी में बिखरे हुए हैं।

आज का भाषण मैं रामचन्द्र शुक्ल के निधन-वर्ष तक सीमित रखना चाहता हूँ। यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण युग था—छायावाद और प्रगतिवाद की युग-संधि का, जिसकी चर्चा मैं कल करूँगा। १६३६ में प्रेमचन्द की मृत्यु हुई, १६३७ में शरच्चन्द्र की, १६३८ में इकबाल की, १६४१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की। १६४० में रामचन्द्र शुक्ल का स्वर्गवास हुआ और उनकी 'रस-मीमांसा' उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई। हिन्दी आलोचना के अतीत पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि देश-काल-परिस्थिति का विचार करने पर, अधिकांश आलोचना वाराणसी की नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के हिन्दू विश्वविद्यालय और उससे पहले 'भारतेन्दु समाज' और उनके द्वारा अनुप्रेरित पत्र-पत्रिकाओं की उपज थी। कुछ इलाहाबाद की 'सरस्वती' और इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आसपास यह प्रक्रिया बढ़ी। शिक्षालयों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार जैसे बढ़ा, परीक्षा में छात्रों की संख्या बढ़ने लगी। उत्तरोत्तर आलोचना भी कुंजी और 'परीक्षोपयोगी गाइडों' की तरह से अधिक छपने लगी। महेन्द्र के 'साहित्य-संदेश' द्वारा आगरा में ऐसी समालोचना का व्यवसाय बढ़ गया। बाद में सत्येन्द्र ने 'साधना' और रामविलास शर्मा ने 'समालोचक' का भी संपादन वहीं किया। आगरा से 'भारतीय साहित्य' और 'गवेषणा' भी निकलती रहीं। मैंने 'साहित्य-सन्देश' के पहले अंक में 'किताब और आदमी' लेख लिखा और पचासों पुस्तकों की समालोचनाएँ और उसके प्रायः सभी विशेषांकों में विशेष लेख, लिखे हैं। मिर्जापुर, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, मेरठ और कुछ अंशों में कलकत्ता तक हिन्दी आलोचना-प्रकाशन के केन्द्र थे। अधिकांश आलोचक अध्यापक-प्राध्यापक थे, या पत्रकार। सृजन-कर्मा साहित्यकारों में भी विशुद्ध लेखनजीवी बहुत कम लेखक थे और जो थे भी, उनकी हालत अच्छी नहीं थी। प्रसाद जी की सुँघनी साहु की दुकान थी, 'निराला' जी ने जमकर कहीं एक जगह कोई कमाने वाला काम किया ही नहीं—'जानतां न

अर्थार्जनोपाय'। पंत जी को कालाकाँकर के राजमहल ने 'कुमार' की तरह पाला, 'रूपाभ' में वे पले। केवल महादेवी जी बराबर नारी-शिक्षा में रत रहीं और देशसेवा में भी। यह छायावाद के चार मूर्धन्य संस्थापकों की बात है।

प्रगतिवादी तो सभी अध्यापक थे, और आज भी हैं। शिवदान सिंह चौहान, ग० मा० मुक्तिबोध, अमृतराय 'हंस' के संपादन से जुड़े थे। नेमिचन्द्र जैन और शमशेर भी पहले बम्बई के 'जनयुग' और 'नया साहित्य' के संपादक थे। बाद में तो प्रगतिवादी और भी कई तरह के काम करते रहे, राजनैतिक कार्य के अलावा। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आजकल की समाज-वैज्ञानिक परिभाषा में लेखकों और समालोचकों के 'वर्ग-चरित्र' की बात बहुत की जाती है। हाल की कुछ आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ तो नृतात्त्विक मूल में जाकर समाज की संरचना में जाति-प्रजाति की भी चर्चा करती हैं। संतजन कहा करते थे कि 'जाति न पूछो साधु की'। पर आजकल वही सब से पहले किसी भी सरकारी गैर-सरकारी कार्य में लिखा जाता है—'धर्म', 'अनुसूचित जाति या जनजाति', फिर आर्थिक हैसियत—मासिक आय, फिर शिक्षा आदि। हिन्दी समालोचना का ऐसा 'उपजातिगत', 'आयगत' इतिहास कभी कोई लिखेगा या नहीं, नहीं जानता, पर अभी भी हिन्दी आलोचना अधिकतर महानगर-केन्द्रित उच्च मध्यवर्ग पर आधारित, पुरुष-प्रधान और अध्यापन या प्रकाशन-संपादन व्यवसाय से जुड़ी हुई है। मेरी जानकारी में शुद्ध समालोचना लिखकर हिन्दी में कोई जी रहा हो, ऐसा उच्च कोटि का आलोचक नजर नहीं आता। दोष मेरी दृष्टि का हो सकता है। समालोचक तो सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वान्तिर्यामी, सर्वतंत्र-स्वतन्त्र, सर्वशक्ति–सम्पन्न है। "समरथ को नहिं दोस गुसांई'—तुलसीदास जी कह गये हैं।

दूसरे भाषण में छायावाद युग और परवर्ती समीक्षा की प्रवृत्तियों और गुण-दोषों पर कुछ कहने का विचार है।

— — —

२

छायावाद युग और परवर्ती समीक्षा

यदि छायावाद युग की हिन्दी आलोचना की ओर दृष्टिपात करें, तो शाक्त और वैष्णव दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट थीं। 'निराला' जी शक्ति-पूजक थे, पंत जी 'सौम्य संत'। इसलिए जहाँ ताल ठोंककर 'मैंने मैं शैली अपनाई' कहकर "मेरे गीत और कला" में निराला जी 'चाबुक' चलाते नज़र आते हैं, 'पंत और पल्लव' में और अन्य निबंधों में; वहीं पंत जी की काव्य-यात्रा की तरह समालोचना भी सौन्दर्यवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, अरविन्दवाद के कई सोपानों से बड़े आराम से 'रलमल-टलमल' करती हुई सुन्दर से सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम स्वयं को बनाती बहती चली जाती है। 'प्रसाद' अवश्य आनंदवाद से बराबर बँधे रहे। उनमें कुछ-कुछ कश्मीर शैवदर्शन की 'विच्छित्ति' या कांति है, सांख्य के पाटल-स्फटिक न्याय से। महादेवी जी सदा अपने गद्य में जीवनवादी रही हैं। उनका काव्य-दर्शन भी बौद्ध करुणा से प्रभावित होने पर भी "बंग-दर्शन" के समय और पहले भी राष्ट्रीय जागरण और आन्दोलन की आशा-आकांक्षा का प्रतिफलन करता रहा है। 'शृङ्खला की कड़ियाँ' तोड़ने में वे नारी-सुलभ अहिंसक पद्धति से काम लेती हैं। मैंने चार वाक्यों में चार महाकवियों पर यों अपना संक्षिप्त अभिमत दे दिया। पर उसके साथ ही जिस मिट्टी और परिवेश से वे पैदा हुए, उसे हमें नहीं भूलना चाहिए। मैं फ्रांस के आलोचक मस्यू तेन की भौगोलिक और जलवायुवाली सिद्धान्त-पद्धति पर नहीं चल रहा हूँ। पर १९३२ में मैंने अपने प्रोफेसर से तेन और शिबली के नाम सुने थे, उनका अब भी कायल हूँ। संस्कार प्रबल होते हैं और बैसवाड़े के पहलवान 'निराला' के खाँटी बैसवाड़े-पन की चर्चा डॉ० रामविलास शर्मा ने और डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' (जो दोनों ही उसी सर ज़मीन के मल्ल' हैं) ने बहुत अच्छी तरह से की है। भारतेन्दु की मल्लिका की तरह 'निराला' जी भी बंग-श्री के

प्रेम में पड़ गये और डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में उन्हें "दखिना पवन" लग गई। 'रामकृष्ण-वचनामृत', विवेकानन्द की "काली-पूजा" का गीत और 'रवीन्द्र कविता शतक' का उन्होंने अनुवाद किया। उसके गद्य पर भी बाँग्ला का प्रभाव है। 'साहित्यिक सन्निपात' द्वारा उन्होंने समालोचनात्मक गद्य के इतिहास में, जैसे कविता में 'कुकुरमुत्ता' द्वारा प्रथम बार अति-आधुनिकतावाद का प्रवर्तन किया—आलोचना में एक अति-यथार्थवादी शैली के 'निराला' प्रवर्तक थे।

छायावादी युग के सहानुभूतिपूर्ण आलोचकों में शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नगेन्द्र, रामकुमार वर्मा, सुधीन्द्र आदि माने जाते हैं। वैसे 'छायावाद का पतन' लिखने वाले और उसके दोष-दिग्दर्शक कहीं अधिक हैं। पहले हम यह देखें कि महावीरप्रसाद द्विवेदी या रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्रीय, परम्परावादी, क्लासिक आलोचना-दृष्टि से छायावादी साहित्य-दृष्टि का मूल मतभेद कहाँ था? जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७) के 'काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध' में यह क्लासिक और रोमैंटिक का दृष्टि-भेद बहुत स्पष्ट नहीं है। प्रसाद प्राचीन काव्यशास्त्र के आचार्य अभिनव गुप्त और कुन्तक के ढंग से ही सोचते हैं। एक कारण तो यह था कि 'प्रसाद' अंग्रेजी शिक्षा के इतने कायल नहीं थे। उनकी मण्डली में संस्कृत, बाँग्ला और बौद्ध-दर्शन, पुरातत्त्व जानने वाले बनारस के पंडित अधिक थे। उनका पाश्चात्य रोमैंटिक आन्दोलन से बहुत कम सम्बन्ध था। अतः उन्हें आनन्दवादी ही कहना चाहिए। छायावाद के प्रवर्तकों में उन्हें केवल शायद इसलिए कहा जाये तो कहा जाये कि उन्होंने नाट्यशास्त्र के नियमों का अक्षरशः पालन अपने नाटकों में नहीं किया। उन पर रोमैंटिक द्विजेन्द्रलाल राय के बंगाली नाटकों का प्रभाव भी दिखाई देता है। डॉ० एल० राय के नाटक शेक्सपीयर से प्रभावित थे और लक्ष्मीनारायण मिश्र तो 'आँसू' को भी, उनके अपने 'अंतर्जगत्' से प्रभावित मानते हैं। इस समय समालोचना की भाषा को जो व्यवस्था और कसावट शुक्ल जी दे चुके थे, उससे भिन्न गद्यकाव्यात्मक शैली में लिखने की प्रथा बाँग्ला से हिन्दी में आ चुकी थी। यह वही युग था जब रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, चतुरसेन शास्त्री और भँवरमल सिंघी ने अपने गद्यकाव्य-संग्रह

प्रकाशित किये थे । इस अर्थ में 'प्रसाद' के समालोचनात्मक निबन्धों की शैली उनके नाट्य-संवादों की शैली से भिन्न है । वह अकादेमिक शैली नहीं है । परन्तु खोजपरक और प्रामाणिक आधारों पर सुस्थित शैली है । अतः 'प्रसाद' का समालोचनात्मक लेखन छायावादी नहीं कहा जा सकता ।

'निराला' में अवश्य क्लासिक शैली से अलग रोमैंटिक स्वच्छन्दतावादी मुक्त-आसंग है । वे दर्शन के साथ-साथ, अधीत साहित्य-मर्मज्ञ की तरह लिखते हैं । ऐतिह्य से अधिक उनका कल्पना पर ज़ोर है। सबसे बड़ी बात उनमें विद्रोही स्वर है । क्या कविता में, क्या समालोचना में, वे एतादृशत्व को ललकारते हैं । वे सामाजिक रूढ़ियों के जितने कटु आलोचक हैं; राजनैतिक विभूतिपूजा के भी प्रखर विरोधी हैं । महात्मा गांधी और नेहरू और टण्डन जी से उनके साक्षात्कार इसके साक्षी हैं । वे सत्य और न्याय के पक्ष में मित्रता, मुरौवत या एक-पक्षीयता को बिलकुल पसन्द नहीं करते । पंत के विरोध में लिखते हैं, नन्ददुलारे वाजपेयी के पक्ष में लिखते हैं । 'निराला' जी की समालोचनात्मक दृष्टि को अलग-अलग आलोचकों ने अलग-अलग ढंग से देखा है : नन्ददुलारे वाजपेयी. नलिनविलोचन शर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामविलास शर्मा आदि के 'निराला' पर लेख और ग्रन्थ पढ़ने पर यह स्पष्ट होगा । मैं उन अनेक थीसिसों की बात नहीं करता जो उन पर लिखी गयीं । 'निराला' की महानता की एक विशेषता यही है कि उनकी रचना बहु-आयामी होने से, इनकी विभिन्न पहलुओं से आलोचना संभव है । कबीर की भी यही बात थी । मैं हिन्दी में दो ही महाकवि ऐसे मानता हूँ कबीर और निराला, जिनके हर युग में नये अर्थ पाये जा सकेंगे । शेष सब कवि मर्यादावादी हैं । मुक्तिबोध और 'अज्ञेय' में भी वह विविधार्थदायी, धनी, कसी हुई ओजमयी संरचना नहीं है । 'निराला' की आलोचनात्मक निबन्ध-रचना में यही चमत्कृति है, श्रेष्ठ काव्य-जैसा आनन्द है । 'निराला' की काव्य-दृष्टि पर तन्त्र का गहरा प्रभाव था जिसका पूरा विश्लेषण हिन्दी में अभी नहीं किया गया है ।

पंत का आलोचनात्मक लेखन 'कला और संस्कृति' या 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' (१९६५) में बिखरा हुआ मिलता है । वह

'निराला' की तुलना में बहुत सपाट है। कहीं-कहीं वर्डस्वर्थ, शैले की प्रतिगूँज-सी सुनाई देती है। कहीं-कहीं अरविन्दवादी शब्दावली है। परन्तु उनका सर्वोत्तम आलोचनात्मक लेखन "पल्लव" (१६२७) की भूमिका है। उसमें रोमैंटिक चेतना भरपूर है। पर वे कुल मिलाकर एक 'कलावादी' या 'रूपवादी' (एस्थीट) की मनोहर कोमल-कान्त पदावली में उलझकर रह जाते हैं। पंत का अपना कोई दार्शनिक स्वतन्त्र चिन्तन नहीं है जिसे गम्भीरता से लिया जाये। इसी कारण उनके विचारों पर कई 'छायाएँ' गिरती-पड़ती, उठती-उभरती दिखाई देती हैं। पंत को कुछ आलोचकों ने 'नवमानवतावादी' कहा है। विशेषतः साम्यवाद की ओर उनका आकर्षण और विकर्षण इस बात की पुष्टि करता है। इसी कारण से 'अज्ञेय' ने 'रूपांबरा' के रूप में उन्हें अपनी आदरांजलि दी। किन्तु साहित्य के इतिहास में उनका आलोचनात्मक लेखन-अवदान बहुत गहरा या दूरगामी नहीं माना जायेगा, यद्यपि उन्हें सराहने वाले अनेक नगेन्द्र जैसे प्राध्यापक और विश्म्भर 'मानव' जैसे कुन्जी-लेखक आज भी मिल जायेंगे। हमें आश्चर्य तब होता है जब एक ओर संस्कृत काव्यशास्त्र के गहन और स्थायी मूल्यों पर आस्था रखने वाले लोग पंत के 'क्षण-क्षण-परिवर्तित प्रकृति वेश' जैसे अवसरवादी विचारों के भी प्रशंसक बनते हैं। या तो उनका संस्कृत काव्यशास्त्र का ज्ञान कच्चा है या वे जो रोमैंटिक भावधारा के प्रति इतने भावोच्छ्वसित हो उठते हैं, उसमें केवल दिखावा है।

मैं जीवित लेखकों के विषय में अधिक नहीं कहना चाहता, इसलिए नन्ददुलारे वाजपेयी और शान्तिप्रिय द्विवेदी—इन दो छायावाद-प्रेमी समालोचकों की ही चर्चा करूँगा। नन्ददुलारे जी नवीनता के पक्ष-पाती थे, 'निराला' के वे भक्त हैं और 'प्रसाद' की 'कामायनी' की तुलना में दिनकर की 'उर्वशी' को वे हलका समझते हैं। पर गद्य, विशेषतः कथालेखन की समालोचना में वे कई विरोधाभासों के शिकार हो जाते हैं। उन्हें प्रेमचन्द उपयोगितावादी लगते हैं, जैनेन्द्र और अज्ञेय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रुग्ण और विकृत। और जिन लेखकों का वे पक्ष लेते हुए लगते हैं, वे इन लेखकों से अधिक सशक्त या सप्राण नहीं सिद्ध हुए। वस्तुतः नन्ददुलारे जी अपने विचारों में भीतर

से दुचित्ता हैं। एक ओर उन्हें प्राचीन का मोह भी है। राष्ट्रवाद भी उन्हें अपनी ओर खींचता है, परन्तु वे पूरी तरह से आधुनिक भी नहीं हैं। वे मार्क्सवादी लेखकों से पूरी तरह सहमत नहीं, न छायावाद का सब कुछ उन्हें ग्राह्य लगता है। इस दृष्टि से उनके 'नया हिन्दी साहित्य' पर समालोचना रामचन्द्र शुक्ल से आगे बढ़कर चलती हुई नहीं लगती। शुक्ल जी में अप्रिय सत्य कहने का साहस था। नन्द-दुलारे जी अपनी बात कुछ गोलमाल कहते हैं। वे 'टंग इन चीक' लिखते हैं। यहाँ लगता है, कहीं न-कहीं उनके संस्कार उन्हें पीछे खींचते हैं।

उनसे अधिक स्पष्ट और भोलेपन की हद तक प्रामाणिक शान्ति-प्रिय द्विवेदी हैं। उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान कम था। वे उस भाषा से आतंकित भी नहीं होते थे। पर उनकी सौन्दर्यासक्ति छद्म नहीं है। वे सुकुमारता के संवेदनशील स्नेही हैं। परिणामतः आज उनकी समालोचना बहुत ही बचकानी लगती है। पर उनकी निरीहता ही उनकी सबसे बड़ी सामर्थ्य है। इस समालोचक के साथ हिन्दी साहित्य ने बड़ा अन्याय किया है। उन पर आज तक ढंग की एक भी किताब नहीं है। मैं उनके बहुत निकट संपर्क में आया। 'वीणा' की कलाओं पर और रोम्या रोलाँ विशेष-अंक पूरे के पूरे मैंने लिख दिये थे।

जब छायावादी आलोचना अभी अपने निखार पर भी नहीं आ पाई थी कि सन् चालीस से हिन्दी में राजनैतिक वामपंथी समालोचना की तुरही बजने लगी। साम्यवादियों के 'लाल परचम' और रूसी साहित्य-सिद्धान्त-शास्त्रियों के अनुवादों से लैस जत्थे के जत्थे हरवल की तरह बढ़ने लगे। उससे पहले देखें कि साहित्य-समालोचना और राजनीति का हिंदी क्षेत्र में क्या संबंध रहा था। गांधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन में जो शरीक हुए हों, जेल गये हों या उनके रचनात्मक कार्यक्रम से जुड़े हों ऐसे कुछ लेखक तो हिन्दी में थे, पर समालोचकों में शायद एक भी बड़ा नाम नहीं।

राष्ट्रीय आन्दोलनवादी कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी को छोड़, जिन्होंने कुछ गद्यकाव्यात्मक आलोचना लिखी, न मैथिलीशरण गुप्त, न सियारामशरण गुप्त, न 'सनेही' जी, न सुभद्राकुमारी चौहान, न

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने कोई साहित्य-समालोचनात्मक पुस्तक लिखी, न कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ही प्रतिपादित किया। गांधी जी के आसपास रहने वाले निबंध-लेखक और पत्रकारों में, जिनकी पुस्तकें हिन्दी में भी उपलब्ध हैं सर्वश्री विनोबा भावे, काका कालेलकर, वियोगी हरि, हरिभाऊ उपाध्याय, भगवानदीन, बाबुराव विष्णु पराड़कर, सेठ गोविन्ददास, जैनेन्द्रकुमार बनारसीदास चतुर्वेदी, काशीनाथ त्रिवेदी आदि कुछ नाम लिखे जा सकते हैं जिनका कुछ लेखन साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में माना जा सकता है। आचार्य विनोबा भावे की पुस्तक 'साहित्यिकों से' में वे साहित्य से अधिक साहित्यिक के नैतिक चरित्र की बात करते हैं। नैतिक मूल्य सापेक्ष होते हैं, यह बात विनोबा जैसे लोग नहीं मानते। वे टालस्टाय और गांधी का हवाला देकर लेखक को भी विशुद्ध नीति-प्रचारक मानते हैं। इसमें वे दो तरह की गलतियाँ करते हैं : सक्रिय समाज-सुधारक और साहित्यिक की भूमिका कहीं भी एक-सी नहीं होती; दूसरे, साहित्य द्वारा होने वाला हृदय परिवर्तन बहुत ही सूक्ष्म और प्रायः अदृश्य, अपरिभाषेय, अपरिमेय होता है। विनोबा-जैसे नीति-निर्णायक गणित की भाषा में मनुष्य का विश्लेषण करना चाहते हैं, जबकि व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंध द्वंद्वात्मक होते हैं। काका कालेलकर के कुछ साहित्यिक समालोचनात्मक निबंध अधिक रसग्राहकता दिखाते हैं। कालेलकर नीत्याग्रही से अधिक सौंदर्यशोधक हैं। पर अन्य कई लोग पत्रकारिता के स्तर पर ही रह गये हैं, जैसे गणेशशंकर विद्यार्थी, शिवप्रसाद गुप्त या पं० सुन्दरलाल का लेखन।

राष्ट्र में समाजवादी आन्दोलन का आरम्भ १९३४ से हुआ और इसने बहुत से महत्त्वपूर्ण हिन्दी लेखक, पत्रकार, कवि आदि दिये। जो अब जीवित नहीं हैं, उनमें आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द, डॉ० राममनोहर लोहिया, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामधारी सिंह 'दिनकर', फणीश्वरनाथ 'रेणु', विजयदेवनारायण साही आदि के नाम सहज याद आ रहे हैं। गांधीवादी आलोचकों की सीधी रेखावाली इकसुरिया आलोचना से अधिक सुलझी हुई और आधुनिक यह दृष्टि थी। प्रेम-चन्द के बहुत से साहित्य-विषयक लेख इसी तरह की समाज और साहित्य की संश्लिष्ट दृष्टि से ओत-प्रोत हैं। कहीं-कहीं वे पत्रकारिता

की कोटि में हैं, पर उनमें जीवन के प्रश्नों के साथ एक गहरा सरोकार है। यहाँ साहित्य केवल शब्द-क्रीड़ा नहीं है। समाज जीवन के सुख-दुःख के साथ एकाकार होने की एक जीवन्त प्रक्रिया है। इस दृष्टि से 'संघर्ष' के सम्पादन-काल में, आचार्य नरेन्द्रदेव का 'रवीन्द्र विशेषांक' दर्शनीय है। सम्पूर्णानन्द की रचनाओं में आर्य अतीत के प्रति आसक्ति विशेष है, पर उनकी साहित्यिक दृष्टि 'अशिव' से जूझती है। डॉ० लोहिया के द्रौपदी और कृष्ण पर, जाति और भाषा पर मार्मिक लेख एक साहित्य-प्रेमी आत्मा के साक्षी थे। 'कल्पना' जैसी पत्रिका का सम्पादन उसी दृष्टि के प्रभाव का परिणाम था। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'नई धारा' में, 'दिनकर' ने 'हिमालय' और 'अवंतिका' में, साही ने 'नई कविता' और 'क, ख, ग' में इसी प्रकार से अपनी साहित्यिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। डॉ० देवराज और डॉ० भगवतशरण उपाध्याय भी इसी दृष्टि से प्रेरित थे। उन्होंने 'युग-चेतना' के सम्पादन और अपने साहित्यिक निबन्धों की पुस्तकों में बहुत-सा मौलिक अवदान हिन्दी को आधुनिक बनाने में दिया। कई उसी विचारधारा के लोग आज भी दिल्ली, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ और उदयपुर में अपने-अपने ढंग से साहित्य-समालोचन को पैना बना रहे हैं।

यहाँ तक तो साहित्य-समालोचना की दृष्टि अपनी जड़ों से जुड़ी हुइ नज़र आती है, चाहे वे विचार रूढ़, धर्मप्रवण, आदर्शवादी, गांधी-वादी, समाजवादी या मानवतावादी भित्ति पर आश्रित रहें हैं। विदेशी विचारों के लिए उनमें नकार या निषेध नहीं था, स्वागत और खुले मन से स्वीकार भी था। परन्तु प्रगतिशील लेखक-संघ और उसके विरोधी 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' जैसे लेखक संगठनों को भी संयुक्त मोर्चे और राजनैतिक पक्ष-स्वार्थ के लिए लेखकों के उपयोगवाली 'ठंडी लड़ाई' गत महायुद्ध के आरम्भ से ही जो शुरू हुई थी और लेखकों के दल और खेमे बनने जहाँ शुरू हुए, लेखकों और उनसे भी अधिक आलोचकों की कठिनाई बढ़ गयी। अब स्पष्ट रूप में लेखकों में तीन तरह के लेखक देखे जाने लगे—

(१) पक्षधर, (२) पक्ष-विरोधी, (३) पक्ष-अपक्ष से तटस्थ।

जैसे साहित्य में, वैसे ही राजनीति में, जहाँ दलबदलू बढ़ने लगे—

सत्ता के आस-पास मँडराने वाले, अनुदानगंधी, पुरस्कार-प्रेमी, यश-लिप्सु और अहं-मोदन करने वाले लेखक बढ़ने लगे, त्यों-त्यों राजनैतिक शब्दावलि का व्यापार भी तेजी से पनपने लगा। हिन्दी अपवाद नहीं थी। हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना किस-किस तरह से अपने रूप बदलती जाने लगी यह इतिहास बहुत पुराना नहीं है। गत महायुद्ध में ही रातों-रात 'राइटर' फाइट हो गये। पी० सी० जोशी ने काफी लचीली नीति रखी और सब तरह के घोषित-अघोषित साम्यवाद-समर्थक लेखक तब उनके आस-पास जुट गये। उनमें से कई उसी पुरानी कीर्ति को आज भी भुना रहे हैं। परन्तु हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में इस साम्यवाद ने बड़े रँग पलटे। प्रगतिवाद पर हिन्दी में अब कम से कम पचास से अधिक आलोचनात्मक पुस्तकें होंगी। थीसिसें तो व्यक्तिगत लेखकों और प्रवृत्तियों पर सैकड़ों हैं। हम पुनः जीवित लेखकों की चर्चा छोड़ भी दें, फिर भी राहुल सांकृत्यायन को साम्य-वादी पक्ष से १९४८ में कैसे अलग होना पड़ा और बाद में रांगेय राघव और यशपाल, शिवनन्दन सिंह चौहान और नरेन्द्र शर्मा, कमलेश्वर और मोहन राकेश, निर्मल वर्मा और नरेश मेहता और ऐसे कितने नाम गिनायें—एक-एक कर को बढ़ा-चढ़ाकर साम्यवादी सिद्ध किया गया; और बाद में एक-एक उनमें दोष गिनाये गये और उनका अवमूल्यन किया जाता रहा। यह सब कहानी इतने निकट की है कि अभी पूरी तरह से चित्र साफ भी नहीं। मार्क्सवादी खेमे से बाहर वालों के लिए यह जानना कठिन है कि कौन कितने अंश तक सही है? 'भाकपा और 'माकपा' के साहित्य-शिविरों की आपसी भगदड़ को वे ही जानें।

मूल कारण यह है कि मार्क्सवाद जहाँ से प्रेरणा लेता रहा है, उस आद्य-शंकराचार्य मार्क्स की मृत्यु-शताब्दि तक आते-आते किसिम-किसिम के मार्क्सवाद देश-विदेश में फैल गये। रूस, चीन, युगोस्लाविया, मैक्सिको, पोलैण्ड, फ्रांस, इटली (युरो-कम्यूनिज़्म) आदि आयामों में शुद्ध अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत से भी अनेक सूक्ष्म तार्किक अन्तर हो गये हैं। और हिन्दी आलोचना की नवीनतम दशक-परिवर्ती शब्दावलि में. मैंने इधर यही 'मार्क्सवाद' शब्द पाँच पत्रों में अलग-अलग सन्दर्भों में पढ़ा—तब किस आलोचक की 'हिट-

लिस्ट' में कौन है, यह बतलाना मुश्किल है। जब गुरु-मंत के इतने 'अपने भी सनमखाने, उनके भी सनमखाने' हो गये हों, तब मैं क्यों किसी का नाम लूँ ? वैसे तो मुझे 'हाई जैक' कोई आसानी से कर नहीं पायेगा। पर क्यों 'आलोचना' के खतरों को उठाऊँ और मैं 'बोध' से 'मुक्त' हो जाऊँ ?

असल में गांधीवाद के साहित्य-समालोचना में प्रतिष्ठित होने का एक मूल कारण यह था कि गांधीवाद एक सक्रिय दर्शन था और बहुजन में ऐसे सच्चे, प्रामाणिक त्यागी व्यक्तियों की कमी थी जो कथनी और करनी में भेद न रखते हों। वही बात समाजवाद के बारे में भी सही हुई। औरों को समाजवाद का उपदेश देने वाले अपने व्यक्तिगत जीवन में पूँजीवादी, सामंतवादी, जातिवादी, अंधराष्ट्रवादी मूल्यों से समझौता कर रहे थे या उनका पालन कर रहे थे। अतः वह आलोचना सिर्फ अधर में रह गयी, ज़मीन तक नहीं पहुँच पाई। 'त्रिशंकु' जैसी पुस्तकें इसी समय लिखी गईं।

मार्क्सवादी आलोचना की तो जड़ें ही इस भूमि में नहीं थीं। यह ठीक है कि हमारे देश में भी चार्वाक के लोकायत की तरह नास्तिक दर्शन कभी थे और कई धार्मिक विचारधाराएँ ईश्वर और आत्मा को नहीं मानती थीं और हैं। फिर भी मार्क्स की विचारधारा मूलतः एक खास योरपीय आर्थिक-सामाजिक ढाँचे पर आधारित थी और वह देश-उपनिवेश में विभिन्न ऐतिहासिक स्थितियों में विभिन्न अवस्थाओं में लागू की गयी थी। चूँकि मनुष्य का यंत्र के आगमन के बाद अपने कर्म और कर्मफल से अलगाव (एलियेनेशन) सब समाज में एक ही गति से या एक ही ढंग से नहीं होता, मार्क्सवाद को यांत्रिक ढंग से जिन लोगों ने एशियाई साहित्य में भी चस्पा किया, वे बहुत जल्दी मार्क्स के अर्थ बदलने लगे, या अपने पुराने निर्णयों से हताश होते गये। हिन्दी की ही बात लें तो पुराने 'हंस' के अंकों को उलटने पर, या 'नया साहित्य' की फाइलें देखने पर ऐसे कई लेखक मिल जायेंगे जो उस समय प्रगतिवादी माने जाते थे और आज वे प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिये गये हैं। तब के समाजवादी बाद में घोर व्यक्तिवादी हो गये। तब के रहस्यवाद-विरोधी आज रहस्यवादी बन गये। 'पर'-निर्भरता में यही बड़ी बाधा है। 'पर' अगर बदल जायें तो ?

राजनीति में मित्रों के शत्रु बनते कितनी देर लगती है। साहित्य को कुछ शाश्वत मूल्यों से, मनुष्य के स्वभाव में कुछ टिकाऊ तत्त्वों से, अधिक सरोकार होता है। यह द्वन्द्व सनातन है—'गाऊँ मैं युग की वाणी या गाऊँ मैं युग-युग की वाणी ?' वस्तुतः सच्चे साहित्य में दोनों में भेद नहीं होता ?

अब आज प्रकाशचन्द्र गुप्त जीवित होते तो नरेश मेहता के 'समय-देवता' पर जो उन्होंने मत दिया था, उस पर शायद पुनर्विचार करते। आज यदि भगवतशरण उपाध्याय जीवित होते तो राहुल सांकृत्यायन के ऊपर उपाध्याय जी के 'संघर्ष', 'सवेरा', 'गर्जन' से 'बोल्गा से गंगा' की कहानियाँ चुराने का जो आक्षेप उन्होंने लगाया, तो उस पर दुबारा सोचते। आज अगर राहुल सांकृत्यायन जीवित होते तो वे 'माओत्से-तुंग' पुस्तक की भूमिका में जो कुछ लिख गये या 'नये भारत के नये नेता' में पंत और शेख अब्दुल्ला और रणदिवे और डांगे और पी० सी० जोशी आदि पर जो लिख गये, उस पर शायद पुनः विचार करते; आज अगर रांगेय राघव जीवित होते तो डॉ० रामविलास शर्मा पर जो कुछ वे लिख गये, उसे फिर बदलते; आज अगर यशपाल जीवित होते और यह कहानी 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' जैसी है।

ऐसी हम केवल अनुमान या कल्पनाएँ करते जा सकते हैं। पर जो वर्तमान है, उनके फतवे और निर्णयों का हम क्या करें ? तीस साल पहले कुछ और बीस साल पहले कुछ और दस साल पहले कुछ और। साहित्य में भी पंचवर्षीय योजना कुछ स्प्रिंग क्लीनिंग की तरह चलानी चाहिए। तब पता चले कि अरे हम जिनको उछालते थे, वे अब उस लायक नहीं थे। या अरे, हम जिसे उपेक्षित किये जा रहे थे या बेकार मानते थे, वह इतना बेकार लेखन नहीं था। सबसे मनोरंजक स्थिति क्लासिकों के मूल्यांकन के बारे में होती है। कभी कालिदास प्रति-क्रियावादी-सामन्तवादी, तो कभी प्रगतिवादी-मानवतावादी हो जाते हैं। वही हाल तुलसीदास का, या विवेकानन्द का, या गांधी का। कभी चेहरा बेनकाब, तो कभी असली चेहरा ढँका हुआ। यह कैसी आलोचना हुई ? जनता पार्टी के राज्य के समय एक, इंका के राज्य के समय दूसरी, कम्यूनिस्ट शासन में तीसरी। कुछ प्रगतिवादियों ने तीनों स्थितियों में लड्डू बटोरे हैं। विद्रोही तेवर सदा के लिए ऊपर

से कायम। ट्राटस्की 'इंटर्नल रिवोल्यूशन' की बात नहीं कहता था ? पुरस्कार लेते क्षण तक मुस्कुराहट, फिर अपना वही तिरस्कार का तिरस्कार। ऐसे चिर-प्रगतिवादियों को क्या कहें ? वे धन्य हैं, उन्हें धिक्कार है ! और वे राजनीति में ही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में भी अब बहुत मिलने लग गये हैं।

अतः रसवाद हो, या मार्क्सवाद हो या प्रयोगवाद-व्यक्तिवाद, समझदार पाठक की दृष्टि में, हिन्दी आलोचना का वर्तमान मूल्य काफी गिरा हुआ लगता है। राजनैतिक वाद-विशेष की 'राम'नामी या स्तालिन 'नामी' या माओ 'नामी' ओढ़ी हुई आलोचना को छोड़िए— शुद्ध अकादेमिक या विश्वविद्यालीय आलोचना की स्थिति भी देखिये। वे दिन गये जब एक हरिहरनाथ हुक्कू अंग्रेज़ी में थीसिस लिखकर पी-एच० डी० पाते थे, या पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को अपनी थीसिस के लिए कितना श्रम करना पड़ा था। चन्द्रबली पाण्डेय को हिन्दी में थीसिस नहीं देने की अनुमति दी, तो उन्होंने उपाधि ही नहीं ली। वे सब दिन अब भूल जाइये ! स्वराज्य पूर्व डाक्टरेट बहुत कम लोगों को मिली। अब हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में ही ४० से अधिक विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० दी जा रही है। गये बीस वर्षों में कम से कम तीन हज़ार से अधिक हिन्दी शोध छात्र-छात्राएँ पी-एच० डी० और कुछ डी० लिट्० पा चुके हैं। पाँच सौ से अधिक थीसिसें छप भी गयी हैं। गिरिराजशरण अग्रवाल के शोध-संदर्भ और उससे पहले डॉ० उदय-भानु सिंह और श्री कृष्णाचार्य-सम्पादित दो ग्रन्थों में पूरे विवरण हैं। अब इन विराट् प्रमाण पर जब शोध-साहित्य-निर्माण और डिग्री बाँटने का कारखाना चल रहा हो, तो आप और हम 'गुण' की बात कैसे कर सकते हैं ? 'क्वालिटी कन्ट्रोल' क्या 'क्वांटिटी' में हो पाता है ? आप कहेंगे कि उपाधि एक आर्थिक आवश्यकता है। एक भूतपूर्व शिक्षा मंत्री ने पी-एच० डी० होने से लेक्चरर का ग्रेड बढ़ाने का प्रस्ताव रख दिया। अब यहाँ-वहाँ थोड़ी-बहुत विषयों की पुनरावृत्ति, थोड़ी-सी अप्रामाणिकता, शर्दिलकी उर्फ चोरी, थोड़ी जल्दबाजी में सन्दर्भादि में गलतियाँ रह जाना, थोड़ी-बहुत गाइड या परीक्षक की प्रशसा या उन्हीं के ग्रन्थों से अधिक उद्धरणी—यह सब मानवीय कम-जोरियाँ रह जायें तो इतना बुरा मानने की क्या बात है ? हिन्दी में

समालोचना के अतिरिक्त और विषयों में भी इतने रद्दी प्रकाशन क्या कम होते हैं ? पाकेट-बुकों में कैसी-कैसी गुमनाम, बदनाम, बेनाम चीजें मुद्रणयंत्र के पेट से बाहर उगली ही जा रही हैं । इन सबसे हिन्दी की महत्ता में कहाँ कोई कमी आती है ? "हाथी चलत है अपनी गति सो", यह सब चलता है, चलने दें—क्योंकि 'सब चलता है' हमारे जीवन का मुख्य मंत्र बन गया है ।

कहाँ हम आलोचना के मानदण्ड वगैरह ऊँची बातें कर रहे थे और कहाँ आ गये हम इस सस्ते 'परमिसिव' शब्द पर । यही मैं आपका ध्यान हिन्दी आलोचना के अतीत और वर्तमान के अन्तर की ओर खींचना चाहता हूँ । पुरानी आलोचना को भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग शुक्ल-युग जैसे नामों से सन् चालीस तक हम अभिहित कर सकते थे । साहित्य के संयुक्त परिवार का एक घर का बड़ा बूढ़ा होता था, एक पैट्रिआर्क था—सब उसकी मानते थे, उस पर श्रद्धा रखते थे । एक मूल्यों का चौखटा था जिसके बीच में आलोचना घूमती थी, 'मर्यादा', 'लोकमंगल', 'साहित्यिक प्रामाणिकता' जैसे शब्दों का कोई अर्थ था । बाद के कुछ घोष-वाक्यों के अर्थ ही तेजी से बदलते चले गये : लोक-साहित्य, जन साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य, जनपदीय साहित्य, प्रादेशिक साहित्य, आंचलिक साहित्य, दलित साहित्य, आम आदमी की तलाश, प्रतीक-पुरुष का लोप, लघुमानव, नायकविहीन उपन्यास, ऊलजुलूस नाटक, भोगा हुआ यथार्थ, प्रतीक, बिंब, संकेत, प्रतिनिधि साहित्य, पक्षधरता, प्रतिबद्धता, आक्रामकता, अकविता, अकहानी, अनाटक, अ-साहित्य—

साहित्य में कोई एक बड़ा नेता व्यक्ति प्रधान नहीं रह गया । हर व्यक्ति प्रधान हो गया । यह लोकतांत्रिक परिवर्तन तो उत्तम हुआ । पर यह नया व्यक्ति बिना चेहरे का व्यक्ति बन गया । वह आदमी नहीं, 'नम्बर' बन गया । वोटर संख्या अमुक । सब 'एवं इंद्रजित' के 'विमल, कमल, अमल' हो गये । अब यह बिना पहचान का आदमी अपनी ही तलाश में गोल-गोल चक्कर काटने लगा । कभी सिद्धान्त के पीछे था, अब सिद्धान्त का अर्थ बताने वाले के पीछे लग गया । पहले खुद देखता था, अब आँखें उधार माँगने लगा । बीच में वह दूसरे के चश्मे से देखता था, वह भी फेंक दिया । 'अंधेर नगरी'

के बाद फिर एक अंधा युग चला। अँधेरे में, अंधी गली, अंधा कानून, यों साहित्य "द्विविध आँधरा" हो गया। सर्जक भी अंधा। आलोचक भी अंधा।

अंधा बाँटे रेवड़ी, फिर फिर निज को देय।

इस निराशाजनक स्वर पर मैं समाप्त नहीं करना चाहता हूँ। मैं केवल एक अर्ध-शती में 'हम कहाँ से कहाँ' आ गये हैं, यह बताना चाहता हूँ। अब पत्रिकाएँ सम्पादकों के नाम से नहीं जानी जातीं, युनिवर्सिटियाँ विभागाध्यक्षों से नहीं, संस्थाएँ अब व्यक्तित्वों की प्रलंबित छायाएँ नहीं होतीं, जैसा इमर्सन कहते थे। अब सब कुछ एक परस्पर सुविधा का मामला हो गया है। व्यावसायिकता और नौकरशाही का अपवित्र गठबंधन है। उसी से जनजीवन पर आधिपत्य है। अब तो आलोचना भी कोई किसी की नहीं करना चाहता। खरा बोलने वाला खोजे नहीं मिलता। 'अर्धसत्यमेव जयते' हो गया है।

डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'भारतीय साहित्य कोश' में रामचन्द्र शुक्ल को ५२ पंक्तियाँ दी हैं और निज को ५४; और भी अधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि डॉ० नगेन्द्र-सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पृ० ६०३ पर लिखा है उनकी 'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८) पुस्तक के विषय में—"इसमें सर्वप्रथम छायावाद की विशेषताओं का प्रामाणिक विवेचन किया और तदनन्तर पन्त की भावभूमि, विचारधारा, कला, भाषा तथा उन पर पड़े बाह्य प्रभावों की व्याख्या की। पन्त की कविताओं की व्याख्या करके उन्होंने वहीं से आलोचना के सूत्र ढूँढ़े हैं और उन्हीं के आधार पर पन्त-काव्य का मूल्यांकन किया है। कहना होगा कि यही आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है।

पुन पृष्ठ ७०४ और ७०५ पर "नगेन्द्र ने हिन्दी आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं। 'रस सिद्धान्त' में रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए उन्होंने इसे पुनः प्रतिष्ठित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया है। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ० नगेन्द्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाये जायें तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वृत्त-परिधि एक ओर द्विवेदी जी की वृत्त-परिधि

का स्पर्श करती है, तो दूसरी ओर नगेन्द्र की। द्विवेदी जी और नगेन्द्र की परिधियाँ एक-दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी समीक्षा में साहित्येतर तत्त्वों की बहुलता है, वाजपेयी जी साहित्यिक मूल्यों पर बल देते हुए भी यथास्थान साहित्येतर मूल्यों का प्रयोग करते हैं, किन्तु नगेन्द्र जी एकान्ततः साहित्यिक समीक्षा-सिद्धान्तों के पक्षपाती हैं, साहित्येतर मूल्यों से उनका सम्बन्ध प्रायः नहीं है।''

पुनः ''नगेन्द्र जी परिष्कृत आनन्दानुभूति में ही नैतिक मूल्यों का समावेश कर लेते हैं। उनका यह सिद्धान्त रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त के समानान्तर दिखाई पड़ता है। रिचर्ड्स के अनुसार भी काव्य का मूल्य नैतिकता से सम्बद्ध न होकर अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य पर निर्भर करता है। नगेन्द्र जी की व्यावहारिक आलोचना में, सैद्धान्तिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखायी पडती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिन्दी अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। इन अनुवादों से स्वयं नगेन्द्र जी को अपने समीक्षा-सिद्धान्तों को सन्तुलित और समन्वित बनाने के लिए बृहत् आयाम मिल गया।'' (यह १९७३ का प्रकाशन है। 'भारतीय साहित्य कोश' की आत्म-प्रशस्ति पाठक स्वयम् पढ़ लें।)

'अज्ञेय' ने 'कांटेम्पोरेरी इंडियन लिटरेचर' (साहित्य अकादेमी, १९५७) में हिन्दी साहित्य पर एक लेख लिखा जिसका अनुवाद उन्होंने स्वयं किया था। 'आज का भारतीय साहित्य' नामक साहित्य अकादेमी की ओर से मार्च, १९५८ में प्रकाशित हुआ। उसमें सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने 'अज्ञेय' को ही नवीन वैज्ञानिक मानवतावाद की स्थापना करने का श्रेय दिया है। वे लिखते हैं पृष्ठ ४०१ पर—''इस संघर्ष के परिणाम में पूर्व का एक भारतीय कल्पना-चित्र बन खड़ा हुआ जो पश्चिमी अध्येता को उतना ही भ्रांत और मनोरंजक जान पड़ेगा जितना हमें 'प्राच्य' का पश्चिमी कल्पना-चित्र जान पड़ता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवेचन में उल्लेखनीय बात इतनी है कि संघर्ष की अन्तिम वैज्ञानिक परिणति तक पहुँचने और एक व्यापक संश्लिष्ट दृष्टि के उपलब्ध होने तक के साथ के समय में एक के पीछे एक कई आदर्श-प्रतीक पुरुषों की परिकल्पना हुई। उपदेशवादी,

रोमांटिक और प्रगतिवादी, तीनों युगों के अपने-अपने प्रतीक-पुरुष अथवा नायक रहे। छायावाद का प्रतीक-पुरुष उत्कट देश-भक्त और परम्परागत आध्यात्मिक मूल्यों का रक्षक था; प्रगतिवाद का प्रतीक-पुरुष पार्टी आर्गेनाइज़र, आन्दोलनकारी कामरेड था अथवा युयुत्सु किसान-मज़दूर। विदेश-शक्ति की प्रवृत्ति अनिवार्यतया वेदान्त की ओर हो जाती थी, क्योंकि वेदान्त पश्चिम के भौतिकवाद के निषेध का पर्याय हो जाता था। यही इस काल में लिखी गयी अनेक हिमालय-वन्दनाओं का और देशभक्ति की भावना के साथ रहस्यवादी शब्दावली के उस गुम्फन का रहस्य है जो माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' के काव्य में पाया जाता है।''

पुन: पृष्ठ ४०३ पर ''व्यक्तित्व की खोज के नये आधुनिक मानवतावादी आन्दोलन को प्रयोगवाद का नाम कुछ-कुछ वैसे ही व्यंग्यात्मक भाव से दिया गया था जिससे छायावाद को वह नाम दिया गया था। निस्सन्देह नई प्रवृत्ति के पहले संकलित प्रकाशन 'तार-सप्तक' की भूमिका में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति पर ज़ोर देते हुए 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार किया गया था; इसी सूक्ष्म डोरे से यह नया नाम आन्दोलन के साथ बाँध दिया गया। नये आन्दोलन की प्रगतिशीलता केवल भाषा अथवा शिल्प के नये प्रयोगों तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। नैतिक जिज्ञासा, नये मूल्यों और प्रतिमाओं की खोज तथा उन आधारों और स्रोतों का अन्वेषण जहाँ से मूल्य उत्पन्न होते हैं, उसकी मूल प्रवृत्ति है। स्वयम् इस प्रवृत्ति के कवि अपनी कविताओं को 'नई कविता' की अभिधा देना पसन्द करते हैं, यह नाम उसकी प्रवृत्तियों की विवेचना करते समय 'अज्ञेय' द्वारा सुझाया गया था।'' यहाँ पर 'अज्ञेय' शब्द पर एक अॅस्टेरिक्स चिन्ह देकर नीचे पाद-टिप्पणी में लेखक ने लिखा—''सच्चिदानन्द वात्स्यायन का उपनाम।''

वात्स्यायन जी की इस निबन्ध में स्थापना है: ''मानव के बाहर मूल्यों के किसी आधिदैविक स्रोत का आग्रह आज नहीं है। और मानवीय मूल्यों का उद्‌भवन भी साधारण मानव से है, किसी काल्पनिक आदर्श अथवा प्रतीक-पुरुष से नहीं।'' पर यह १९५८ का निबन्ध है। उसके बाद १९८२ तक आते-आते वात्स्यायन जी 'जय जानकी जीवन पद-यात्रा' में व्यस्त हो जाते हैं। उनके बारे में कुछ अन्तिम कह पाना

मुश्किल है, चूँकि वे स्वयम् फ़रमा चुके हैं—"लिख-लिखकर मैं अपने को झूठा किये जाता हूँ।"

एक तीसरे नामवर आलोचक को लें। मैं केवल दिखाना यह चाहता हूँ कि नगेन्द्र, अज्ञेय और नामवर सिंह वस्तुतः हिन्दी की एक-जैसी मठी आलोचना-शैली के तीन पहलू मात्र हैं। इस त्रिमूर्ति ने गये तीन दशकों तक हिन्दी आलोचना को काफी प्रभावित कर रखा है। पर इन तीनों जगन्नाथों के पैर काठ के निकले। डॉ० नामवर सिंह का निबन्ध "इंडियन लिटरेचर सिन्स इंडिपेंडेंस" (साहित्य अकादेमी, १९७३) में पृष्ठ ७९ से ९२ तक छपा है। इसकी काफी आलोचना अमृतराय 'धर्मयुग' में दो लेखों में कर चुके हैं। मैं केवल उनके लेख के कुछ अंश, मूल चूँकि अंग्रेज़ी में है, अतः उन्हीं के शब्दों में देना चाहता हूँ—

"लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन हिन्दी हैज़ फ्राम दि वेरी बिगिनिंग ऑफ दि मॉडर्न पीरियड एक्टेड एज़ ए साइडफोर्स। इन दि लास्ट ट्वेंटी फाइव इअर्स टू, इट हैज़ मेड पैरेलल एडवांस विद क्रिएटिव राइटिंग टुवर्ड्‌स दि सर्च फार निउ टूल्स ऑफ एक्सपोज़िशन एन एनेलिसिस एण्ड दि डेवलपमेन्ट ऑफ निउ क्राइटेरिया ऑफ इवैल्यूशन"। 'नयी कविता के मूल्यांकन' शब्द का ही यह तर्जुमा है। आपने अपने लेख में एच० देवीशंकर अवस्थी और विजयदेवनारायण साही के अलावा नेमिचन्द्र जैन, कुँवर नारायण, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे और रमेशचन्द्र शाह को महत्त्वपूर्ण आलोचक माना है। और अमृतराय के 'कलम का सिपाही प्रेमचन्द' (१९६४) और डॉ० रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य-साधना' (१९३९), इन दो ही ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इस छोटे से लेख में उन्होंने केदारनाथ सिंह और काशीनाथ सिंह के अलावा कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, सौमित्रमोहन, मुद्राराक्षस, ललित सहगल, श्रीकान्त वर्मा और हरिशंकर परसाई का विशेष नामोल्लेख किया है। गये दस वर्षों में नामवर सिंह जी की प्रिय लेखकों की फेहरिस्त में से इनमें से कितने शेष रहे हैं या नहीं। परन्तु बाद के उनके वक्तव्यों में कइयों की काफी अप्रिय आलोचना भी उन्होंने लिखी है, या उनके द्वारा सम्पादित 'आलोचना' में छपी है। अगले दस वर्षों में यह फेहरिस्त बदल जाने की सम्भावना है।

क्या साहित्य-समालोचन इतना पूर्वाग्रह-आधारित व्यापार है ? आज की हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली आलोचनाओं को पढ़कर तो ऐसा लगता है कि यह मनमाना व्यापार है । अभी भी हम यूरोप और पश्चिमी दुनिया में जो शैली बनाम कथ्य, शास्त्रीय समालोचना बनाम मानवतावाद, क्लासिक के विरुद्ध रोमांटिक, क्यूबिज्म वर्सेस एक्स्प्रेशनिज़्म वाले द्वन्द्वों में उलझे हुए हैं । चीन में कोई भी महाकाव्य नहीं लिखा गया, इसलिए क्या चीनी मार्क्सवाद मानने वाले हमारे देश के सब महाकाव्यों का खण्डन करें ? रूस में ज़्दानोववाद १९४५ से १९५३ तक चला जिसके अनुसार "सारा लेखन और कला पार्टी की नीति के अनुसार ही होनी चाहिए थी।" इसे 'ज़्दानोवश्चीना' कहते थे । अरकातोवा और मिखाएल जोशेंको के साहित्य की कटु आलोचना हुई । इल्या इहोनबुर्ग ने १९५३ में 'ओत्तेपेल' (दि थॉ) लिखा और स्तालिन के समय की ज़्यादतियाँ वर्णित कीं । और अब "चीनी साहित्य" में हाल की उन्हीं के यहाँ की 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के विरोध में कितना कुछ छपकर आ रहा है । तो प्रश्न यह है कि क्या तीसरी दुनिया का साहित्य और समालोचना भी बाहर से आयातित सिद्धान्तों के साँचों के अनुरूप ढाला जाये ? वह 'कोल्ड वार' वाले पुराने शिविरों में कब तक जकड़ा रहेगा ।

जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की एक तरह की जकड़बंदी थी, वहीं अमेरिका या रूसी विचारों की दूसरी जकड़बंदी से साहित्य को बाँधने की कोशिशें नाकामयाब होती रही हैं । गत छत्तीस वर्षों का साक्ष्य यही है कि साहित्य में ऐसे फैशन कुछ दिन तक चलते हैं – फिर वे सहज भुला दिये जाते हैं । पत्रकारिता समालोचना नहीं है । समालोचना में कुछ स्थायी मूल्य ही टिककर रहते हैं और जैसे रूपवादी इलियट ने भी कहा था, 'अच्छी' कविता से 'महान्' कविता अलग होती है । साहित्य की महानता को साहित्य के बाहर जीवन की महानता से देखना होता है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में कई लेखकों और समालोचकों ने भी काफी परिश्रम किया है । उन सबका योगदान और नामोल्लेख यहाँ सम्भव नहीं । पर यदि मुझसे पूछा जाये कि रामचन्द्र शुक्ल के बाद किन्हीं दो बड़े स्वर्गीय हिन्दी आलोचकों का नाम लिया जाय तो

मैं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के नाम लेना चाहूँगा। दोनों के नाम से गत तीन वर्षों से हमने भारतीय भाषा-परिषद्, कलकत्ता में प्रतिवर्ष एक विद्वान् को बुलाकर व्याख्यानमालाएँ भी प्रारम्भ की थीं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य है। उनकी स्मृति में अब तक डॉ० उदय-नारायण तिवारी, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया के भाषण हुए। इस वर्ष आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा भाषण देने वाले हैं। हजारीप्रसाद जी की व्याख्यानमाला में मध्ययुगीन कला और काव्य पर क्रमशः डॉ० कपिला वात्स्यायन और डॉ० जगदीश गुप्त के भाषण कराये जा चुके हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० धीरेन्द्र जी के यह दो नाम मैंने इसलिए नहीं लिये कि वाराणसी और इलाहाबाद तक हिन्दी आलोचना को मैं सीमित रखना चाहता हूँ। वैसे सर सैयद के समय के अकबर इलाहाबादी ने चुटकी ली थी कि "ईमान भी तुलता है, मगर अलीगढ़ के तौल से" उस हिसाब से एक अलीगढ़ी आलोचना-ताला है जिसकी कुंजी मेरे पास नहीं है। और आगरा मेरठ-अंचल, पटना-राँची-अंचल या जबलपुर-उज्जैन-अंचल के भी अपने-अपने आलोचक हैं जो बिल्कुल अजनबी नहीं हैं। परन्तु यह सभी स्थानीय आलोचना-प्रकाशन काफी चर्वित-चर्वण की अवस्था में है। शोध की ओर नवीन संतुलन की जैसी मौलिक दृष्टि हजारीप्रसाद द्विवेदी जी में लक्षित हुई या जिस तरह की सन्दर्भ-सूक्ष्मता का समायोजन और समेकन धीरेन्द्र वर्मा में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है।

मैंने जब यह कहा कि हिन्दी आलोचना का वर्तमान मुझे विशेष उल्लेख-योग्य या विचारोत्तेजक नहीं लगता, तब मेरी यही मान्यता है कि इतने सारे ग्रन्थ, समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर हिन्दी में प्रकाशित होने पर भी, देश के बाहर छोड़िये, परन्तु अन्य भारतीय भाषाओं में क्यों किसी समालोचनात्मक हिन्दी ग्रन्थ का अनुवाद नहीं हुआ ? डॉ० नगेन्द्र के 'रस-सिद्धान्त' के बाँग्ला, मराठी आदि भाषाओं में अनुवाद कराये गये हैं। परन्तु उस अपवाद को छोड़कर बहुत कम उदाहरण किसी आलोचनात्मक ग्रन्थ के अनुवाद के अन्य भारतीय भाषाओं में मिलते हैं। 'अज्ञेय' के 'आत्मनेपद' का गुजराती में अनुवाद हुआ है। पर विदेशी भाषाओं

की स्थिति तो और भी बुरी है। ताशकंद में १६७२ में मैं गया तो पता लगा कि 'शिवनन्दन सिंह चौहान : व्यक्तित्व और कृतित्व'' पुस्तक रूसी में छप रही थी। पर अंग्रेज़ी में वात्स्यायन जी के 'संवत्सर' और उनकी 'सूत्रमयी' और 'जूनलि' जैसी किताबों के भी अनुवाद छपे हैं; पर समालोचनात्मक पुस्तकों में शायद इन्द्रनाथ मदान और अमृतराय तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'प्रेमचन्द' पुस्तकों के अलावा कोई अच्छी पुस्तक नहीं दिखाई थी। निराला, मुक्तिबोध, डॉ० रामविलास शर्मा, नागार्जुन, बच्चन पर क्या, अंग्रेज़ी में कोई अच्छी पुस्तकें लिखनेवाले हिन्दी-भाषी नहीं हैं ? वैसे अंग्रेज़ी पढ़ानेवाले और अंग्रेज़ी से एम० ए० मेरी जानकारी में हिन्दी के पचासों नये-पुराने अच्छे लेखक हैं। साहित्य अकादमी अपनी "साहित्य-निर्माता'' सीरीज़ में केवल मृत लेखकों पर ही पुस्तकें लिखवाती है। उसमें भी कई हिन्दी लेखकों के नाम अभी छूटे हुए हैं।

क्या इसके तीन कारण नहीं हो सकते ? हिन्दी की वर्तमान समालोचना में ऐसा कुछ नया या विशेष देने को नहीं है जिसकी ओर अन्य भारतीय भाषाएँ आकृष्ट हों; या जिसके बारे में अंग्रेज़ी में लिखकर कुछ अधिक ज्ञान-वर्द्धन या साहित्य की समझ बढ़ानेवाला कार्य किया जाये। वैसे डॉ० नगेन्द्र-सम्पादित "लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन इण्डिया'' (१६७६) का बहुत अच्छा स्वागत नहीं हो पाया। दूसरा कारण शायद यह है कि अच्छे अनुवादक नहीं हैं। हिन्दी प्रकाशक तो अंग्रेज़ी की पुस्तकें नहीं छापेंगे। फिर कौन इस काम को उठायेगा ? तीसरा बड़ा कारण यह है कि समालोचना अब भी एक गौण या द्वैतीयिक कर्म माना जाता है। कोरे आलोचक का समाज में क्या स्थान है ? संस्कृत काव्यशास्त्रियों में हर एक की दर्शन, व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदांत, धर्मशास्त्र किसी-न-किसी ज्ञान-शाखा में गहरी पैठ होती थी। केवल हजारीप्रसाद जी ही ज्योतिषाचार्य थे। तो 'सूर-साहित्य' के पहले संस्करण में उनके नाम के पीछे 'शास्त्राचार्य' के बदले 'शस्त्राचार्य' छप गया था। हमारे कई कोरे अध्यापक समालोचक अन्य ज्ञान-शाखाओं से कोरे हैं।

जैसे हमारे अध्यापक-प्राध्यापक, प्रकाशक-सम्पादक हमारी इस आलोचना के क्षेत्र में दरिद्रता के कारण हैं, वैसे ही साहित्य-संस्थाएँ

भी अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकतीं। रामचन्द्र शुक्ल का "व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" वाला निबन्ध हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९३४ के इन्दौर अधिवेशन की साहित्य-परिषद् का अध्यक्षीय भाषण था। उसके बाद कितने साहित्य सम्मेलनों के भाषण यों चर्चा का विषय बने ? चन्द्रबली पाण्डेय और राहुल सांकृत्यायन के भाषण चर्चित हुए, पर अन्य कारणों से। बालकृष्ण राव ने 'विवेचना' माध्यम में अच्छी चर्चाएँ चलाई थीं। पर लगता है, यह सारी परिपाटी ही अब समाप्त हो गयी। गत वर्ष कुरुक्षेत्र में 'अंचल' जी ने एक लम्बा भाषण दिया और काफी उत्तेजक बातें भी उन्होंने कहीं—परन्तु उनकी व्यापक चर्चा नहीं हुई। नागरी प्रचारिणी सभा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य समिति आदि स्वैच्छिक संस्थाएँ और अन्य हर राज्य के हिन्दी संस्थान और ग्रन्थ अकादमियाँ पता नहीं इस दिशा में क्या कर रही हैं ? मानो पुरस्कार बाँटने तक उनका कार्य सीमित हो गया है। मैं आस्थापूर्वक हिन्दी के कई साहित्यिक शोध-त्रैमासिक गये बीस वर्षों से देखता-पढ़ता आ रहा हूँ। उनमें से कितने निबंध ऐसे हैं जो अलग से पुस्तकाकार छापकर स्थायी मूल्यांकन या गवेषणा के विषय की निधि माने जा सकते हैं ? शायद पाँच प्रतिशत भी नहीं।

मुझे लगता है कि साहित्य-समालोचना में हमारी दृष्टि निरन्तर संकीर्ण और संकुचित होती जा रही है। व्यापक और उदार दृष्टि जो स्वतन्त्रता से पहले थी, अब कम होती जा रही है। पाण्डुलिपियों को सँभालकर रखना, उनका सूची-ग्रंथन, उनका पाठावलोकन यह सब परिश्रम-साध्य बातें कम होती जा रही हैं। अब क्षेत्रीय शोधकार्य बढ़ा है। पर वहाँ भी वैज्ञानिक दृष्टि से सामग्री-संकलन का अभाव है। सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि हम 'नित्यानित्य वस्तु-विवेक' भूल बैठे हैं। किस चीज़ को वरीयता दें, कौन-सी गौण मानें—यह सब बातें जैसे भुला दी हैं। हर छोटे से छोटे नगर, उपनगर की लघु-पत्रिका है, उसके अपने-अपने महाकवि, महालेखक, महाकथाकार, महानाटककार हैं और इतनी सारी छोटी-छोटी मिट्टी के ढूह और टीलों की पूरी नामावलि देकर भी विंध्य या हिमालय की ऊँचाई तो दूर, एक भी 'गौरव गिरि उत्तुंग प्राय' बन नहीं पा रहा है।

देश की आधी दुनिया में भी जागरण विराट पैमाने पर आ रहा है और क्षेत्रों में राजनीति, चिकित्सा, समाजसेवा, यहाँ तक कि हिमालय-आरोहण में भी स्त्रियाँ बहुत आगे हैं, पर हिन्दी साहित्य-समालोचना के सौ वर्ष के इतिहास में एक भी नारी का केवल आलोचिका के नाते नाम नहीं ले सकते जो महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी या धीरेन्द्र जी की कोटि की हो। ऐसा क्यों है ? यह प्रश्न मैं केवल हिन्दी के सन्दर्भ में ही नहीं कर रहा हूँ। भारत की अन्य भाषाओं में समालोचना के विकास पर जो भाषण मैं दूँगा, उसमें भी यह अभाव तीव्रता से अनुभव किया जाता है। इस पर हमें विचार करना चाहिए। क्या हमारी सारी आलोचना पुरुष-प्रधान तो नहीं है ?

समकालीन रचनाकारों का समकालीन रचनाकारों पर या समालोचकों का समालोचकों पर मंतव्य बहुत विश्वसनीय नहीं होता। पर गये हफ्ते मेरे पास डॉ० निज़ामुद्दीन ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य' नामक अपनी प्रकाशित थीसिस भेजी है। उसमें वैसे तो उनचास महाकाव्यों की चर्चा है जिनमें से पैंतीस से अधिक बराये नाम महाकाव्य हैं। फिर भी उनकी चर्चा मैं इसलिए कर रहा हूँ कि उसमें डॉ० बच्चन का एक पत्र छपा है जिसमें दिनकर की 'उर्वशी' और पन्त के 'लोकायतन' पर उनकी बड़ी बेबाक टिप्पणी छपी है। ९-९-१९६५ को लिखे उस पत्र के दो परिच्छेद मैं आपके सामने पढ़कर सुनाना चाहता हूँ।

"जहाँ तक मेरी राय है और हिन्दी समालोचक की राय न होकर पाठक की राय है—'उर्वशी' का फलक महाकाव्य के लिए छोटा और गीतिनाट्य के लिए बड़ा है। साहित्य के नये प्रयोगों में किसी ऐसे फार्म का निकल आना आश्चर्य की बात नहीं है। गीतिनाट्य में जहाँ तक विचार अथवा भाव की एकता का प्रश्न है, 'उर्वशी' में वह मौजूद है। काव्य के माध्यम से अध्यात्म कहाँ तक सफल है—अथवा बिल्कुल नहीं है—ये दूसरे प्रश्न हैं। मेरी राय में वह साध्य भी नहीं है और 'उर्वशी' का कवि उसे सिद्ध भी नहीं कर सका। काम के साथ बहुत-सी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। दिनकर कुछ से उलझे हैं और उन्होंने सुलझाने का प्रयत्न किया है, पर मूल समस्या सिद्ध नहीं हुई।

पुरुरवा ने उर्वशी के वियोग में, संयोग में नहीं, संन्यास लिया – गोया संन्यास लेना अध्यात्मसिद्धि नहीं है और यहीं 'उर्वशी' समाप्त हो जाती है।

शास्त्रीय परिभाषा से 'लोकायतन' को भी महाकाव्य शायद ही कहा जा सके – शायद 'कामायनी' भी उस परिभाषा पर पूरी न उतरे। इसका अर्थ केवल यह है कि आधुनिक युग में महाकाव्य-सम्बन्धी हमारे विचारों में परिवर्तन आ गया है। उसके काव्य-रूप के सम्बन्ध में शायद पन्त भी स्पष्ट नहीं हैं उसे 'लोकायतन' में ही 'गीत और गाथा' भी कहा गया है। 'लोकायतन' का महाकाव्यत्व तो शायद उसके व्यापक फलक में ही निहित है। वस्तुतः यह पन्त जी की एक कामना की प्रतीकात्मक व्याख्या है। 'लोकायतन' ने संस्था के रूप में कभी स्थूल आकार नहीं लिया, वह सदा पन्त जी के विचारों में ही रहता है। कथाबद्ध कर शायद उन्होंने अपने असमर्थ स्वप्न को रूपान्तरित कर दिया है। 'लोका तन' की सबसे बड़ी कमी मुझे यह लगती है कि उसमें पन्त जी अपने को अपने विचार से अलग नहीं रख सके। तुलसीदास 'रामचरितमानस' में आधी कथा यदि अपनी भी लिख देते तो वह 'लोकायतन' का पूर्ववर्ती या उसका बड़ा भाई होती। महाकाव्य लिखने के लिए जो वस्तुपरकता (ऑब्जेक्टिविटी) होनी चाहिए, वह पन्त जी में नहीं है। शायद उनकी प्रतिभा गीतात्मक ही है, इसलिए मेरी ऐसी राय है कि महाकाव्य की दृष्टि से तो वह बिगड़ गया और पन्त जी के व्यक्तित्व का अध्ययन करने का वह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है– जैसे उनकी आतमकथा ही हो। अन्त में 'लोकाय-तन' पन्तायन होकर रह गया है—हालाँकि पन्त को अभिव्यक्त करने वाले ग्रन्थ की कम महत्ता नहीं है– पन्त जी ने हिन्दी काव्य को इतना दिया है कि हमें उन्हें जानना ही होगा और 'लोकायतन' से हम उन्हें सबसे अधिक जानेंगे।"

हिन्दी आलोचना के लिए कवियों, कथाकारों, नाटककारों के अपने बारे में दिये गये बयान, या उनके समकालीन और समानधर्मा लेखकों के बयान, संस्मरण, पत्र-स्मृतियाँ जमा की जायें तो बहुत मनोरंजक तथ्य सामने आते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, बनारसीदास जी, हजारीप्रसाद जी, मुक्तिबोध और कई

अन्य लेखकों के पत्र प्रकाशित हुए हैं। कमल पुंजाणी ने हिन्दी के पत्र-साहित्य पर एक थीसिस ही लिखी है। पर इस दिशा में हिन्दी का अपना एक 'आरकाइव्ज' होना चाहिए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, लखनऊ युनिवर्सिटी अपने हिन्दी विभागों में यदि 'ओरल हिस्टरी' (मौखिक भाषणों, प्रसंगों, संस्मरणों, कविता-पाठ, कथापाठ आदि) के संग्रह का कार्य हाथ में लें तो बड़ा उपकार हो सकता है। अभी शुरुआत सत्तर से ऊपर वाले बड़े साहित्यकारों, कवियों, पत्रकारों, कथाकारों से करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि वे अब सब लिखते ही हों। पर उनके पास जाकर उनके इंटरव्यू लेकर, उन्हें संग्रहालय के रूप में रखने का कार्य युनिवर्सिटियों और साहित्य-संस्थाओं को अवश्य करना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में आलोचना के अतीत और वर्तमान के सर्वेक्षण और समालोचना की दिशा में कुछ मुद्दों का विवेचन इन दो व्याख्यानों में मैंने यथामति किया है। मुझे ध्यान है कि कई बातें छूट गयी हैं। कई नाम, कई ग्रन्थ, कई आज भी कार्यशील सत्समालोचकों के नाम जिनमें से कई तो यहीं इलाहाबाद में और इस श्रोता-मण्डली में उपस्थित हैं—मैंने जान-बूझकर छोड़ दिये हैं। कुछ नामों का भूल से विस्मरण भी हुआ होगा। परन्तु उस सब के लिए मैं क्षमा नहीं माँगता, चूँकि मैं अपने आपको 'सर्वज्ञ' नहीं समझता हूँ। राहुल जी के साथ सन् ४८ में जब 'शासन-शब्द कोश' का हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सम्पादन कर रहे थे तो एक आलोचक आये और कहने लगे—"राहुल जी इसमें यह छूट गया है। यह अधूरा है" इत्यादि। राहुल जी धीमे से मुस्कराये और बोले—"हर मनुष्य अपूर्ण होता है, उसका काम भी अपूर्ण होता है। आगे आनेवाले लोग उसे सुधारेंगे और पूरा करेंगे।" मैं इस बात में विश्वास करता हूँ और इसलिए मैं दावा नहीं करता कि हिन्दी आलोचना पर मैंने कोई 'हर्फ़े-आखिर' लिख दिया है। मैं इस खुशफहमी में नहीं हूँ कि मैं ही 'सब जानने-वाला' हूँ।

अगले भाषण में मैं हिन्दी आलोचना को भारतीय साहित्य की गत सौ वर्षों की, विशेषतः गत पचास वर्षों की, चौदह भाषाओं में—

बल्कि संस्कृत को छोड़कर तेरह भाषाओं की प्रगति का लेखा-जोखा दूँगा। उसका मैंने एक आलोचकों के नामों का मानचित्र-सा बनाया है जो भाषण के अन्त में मैंने दिया है। वहाँ भी सारे नाम देकर मेरा दावा नहीं है, पर उससे पता चलेगा कि सब भाषाओं में आलोचना की समान प्रवृत्तियाँ कितनी और कैसी चलती आ रही हैं। मैं भारत की प्रायः सभी भाषाओं के सभी प्रमुख लेखकों से गये चालीस वर्षों में मिला हूँ। उनमें आलोचक भी रहे हैं। उनकी कुछ बातों को लेकर मैं अगले भाषण में आपका मनो-विनोदन करूँगा।

३

हिन्दी आलोचना और भारतीय साहित्य

आज मैं हिन्दी आलोचना को भारतीय भाषाओं के साहित्य में आलोचना के कार्य और उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहता हूँ। जैसे हिन्दी में आरंभिक काल में 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के ढंग पर कवि जीवन-वृत्तांत-संग्रह और संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अनुवाद-टीका का युग पच्चीस वर्षों तक चलता रहा, भारतीय भाषाओं में भी यह कार्य काफ़ी समय से किया जाता रहा है। बल्कि कुछ अन्य भाषाओं में मुद्रण-कार्य और पहले आरंभ हुआ। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना १८५७ में हुई और पश्चिम की समालोचना का प्रभाव वहाँ के शिक्षित उच्च मध्य-वर्ग पर बहुत जल्दी पड़ा। इसलिए कुछ दृष्टियों से वे हिन्दी से अधिक लाभ में रहे। पर क्लासिक के प्रति मोह टूटते-टूटते इस सदी का आरंभ आ गया। राष्ट्रवादी आन्दोलन ने उन भाषाओं में भी 'जातीय चेतना' और पुनर्जागरण-चेतना बढ़ाने का कार्य किया। रोमैंटिक कवियों ने स्वच्छन्दतावादी रचनाएँ लिखीं। प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त होने का प्रयास किया। इस शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों में यह रावींद्रिक प्रभाव काफी समय तक रहा। सन् १९३४ के बाद प्रगतिवाद का विकास हुआ और लेखक से सामाजिक क्रान्ति की अधिक अपेक्षा की जाने लगी। यह धारणा गत महायुद्ध के अंत तक चलती रही। स्वराज के बाद राष्ट्रवाद छायावाद, प्रगतिवाद सभी फार्मूलों से नये लेखकों का स्वप्न-भंग आरंभ हो गया। गांधी और मार्क्स के साथ-साथ, या बदले में फ्रायड और युंग के नाम साहित्य में लिये जाने लगे। मैथ्यू आर्नल्ड और ब्रैडले, मिडिलटन मरे और वाल्टर पेटर के बाद जो वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स से ब्राउनिंग तक के नाम लिये जाते रहे, जो रस्किन और कार्लाइल, येट्स और कारपेंटर की बात की जाती थी, वह सब बदल गई। चौथे दशक तक आते-आते काडवेल

और रैल्फ फाक्स, ल्यूनाचार्स्की और दुब्रोब्योलूव, टौमसान और लुकाच की चर्चा शुरू हो गयी। फिर अभी इलियट और पाउंड, एडमंड विल्सन और ट्रिलिंग, एलन टेट और रिचर्ड्स, सार्त्र और यास्पर्स, रौबेग्रिये और मार्लो-पाटी की उद्धरणियाँ कुछ लोग देने लगे। जो साहित्येतर अन्य ललितकलाओं के भारतीय समीक्षकों-इतिहासकारों की भी बात करते थे, जैसे आनन्दकुमार स्वामी और ओ० सी० गांगुली, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द आदि चिंतकों की चर्चा भी होती रही। यह सब नामावलियाँ मैंने एकसाथ इसलिए ले डालीं कि आप जैसे सुबुद्ध श्रोताओं को पता लग सके कि संस्कृत काव्यशास्त्र की चर्चा से भारत की अन्य भाषाएँ सन् तीस-पैंतीस तक मुक्त हो चुकी थीं जबकि हिंदी में इनका पुनरुज्जीवन स्वराज के बाद अधिक हुआ। उसी प्रकार से ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण और नागरीकरण बढ़ता चला गया, अंग्रेजी का बोलबाला सभी प्रदेश में अधिक हुआ और अब तो किसी भी खेमे का आलोचक ले लीजिये, वह स्वदेशी चिंतकों या समालोचकों की बात कम करता है, 'इम्पोर्टेड' या 'फारेन' का आतंक विद्या के क्षेत्र में भी बहुत अधिक चल पड़ा है, विशेषतः समुद्र-किनारे के महानगरों में। भारतीय अंग्रेज़ी-लेखक तो अधिकतर अपने ऐतिह्य और परंपराओं से एकदम कोरे हैं, बल्कि उसी परमितता में गर्व का भी अनुभव करते हैं।

यह विषय इतना व्यापक और विशद है कि एक व्याख्यान में उसके साथ पूरी तरह न्याय कर पाना संभव नहीं। अतः मैं केवल अपने अल्पज्ञान तक सीमित चर्चा करूँगा। मैं सन् १९५४ में पहली बार दक्षिण में अन्नामलै नगर में पी० ई० एन० बैठक में गया और बाद में साहित्य अकादेमी में आने पर, अगले बीस वर्षों तक भारत के सभी प्रान्तों में साहित्यकारों से नियमित रूप से मिलता रहा। इसके पूर्व १९४८ में 'शासन-साहित्यकोश' के सिलसिले में मैं पाँच प्रदेशों की यात्रा कर चुका था--बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात तथा आन्ध्र की। फिर तो १९५४ से मैं आसाम, केरल, कर्नाटक, कश्मीर, पंजाब, मणिपुर आदि प्रदेशों में और उर्दू सिंधी आदि प्रदेशविहीन भाषाओं की सलाहकारी समितियों में भी बराबर भाग लेता रहा। साहित्य अकादेमी के संविधान में युनिवर्सिटियों, साहित्य-संस्थाओं

और राज्य-सरकारों के प्रतिनिधि साहित्यकार होते थे । वे सलाहकारी समितियाँ कवि-कथाकार समालोचकों को भी सदस्य बना लेती थीं । पुरस्कार की योजनाओं में सब तरह के समीक्षकों से पत्र-व्यवहार करना पड़ता था । बाद में सलाहकार समितियों में एक-एक महिला भी सन् चौंसठ के बाद ली जाने लगीं । इस तरह से भारतीय साहित्य में क्या चल रहा है, इसका मैं एक तटस्थ साक्षी बन गया । मेरा इस विषय में आत्म-शिक्षण काफी हुआ । उसी के आधार पर अब कुछ प्रवृत्तियों की बात करना चाहता हूँ ।

मैं पूर्वांचल में आसाम से यह कहानी आरंभ करूँगा । भाषा-तत्त्वविद् बानीकांत काकती की पुस्तकें मैंने पढ़ी थीं, पर उनसे मिलने का कभी सौभाग्य नहीं पाया । डॉ० विरिंचिकुमार बरुआ से मेरी बहुत अच्छी पहचान थी । उन्हीं के आमंत्रण पर मैं १६५४ में असम साहित्य सभा में सहभागी हुआ । गत वर्ष उसी सभा के ५० वर्ष पूरे हुए । मुझे उन्होंने उद्घाटन-भाषण के लिए बुलाया था । वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य अध्यक्ष थे । मैंने "भारतीय लेखक की समस्या—लगाव और अलगाव" पर एक विस्तृत भाषण भी दिया था । पुराने खेमे के आलोचकों में डॉ० सूर्यकुमार भुँइयाँ इतिहासकार थे । मैं संस्कृतज्ञ कृष्णकान्त हाँडिकी से भी मिला हूँ । 'कामरूप संस्कृति संग्रहालय' दिखाने भुँइयाँ ले गये थे । 'हस्तिविद्यार्णव ग्रंथ' दिखाया था । उस तरह की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में समालोचना लिखने वालों में वैष्णव साहित्य-मर्मज्ञ डॉ० महेश्वर निओग और साहित्येतिहासकार डॉ० सत्येन्द्रनाथ शर्मा प्रमुख हैं । डॉ० विरिंचिकुमार बरुआ सृजनशील साहित्यकार थे । उन्होंने उपन्यास भी लिखे । उन्होंने अकादमी के लिए असमिया साहित्य का इतिहास लिखा जो डॉ० सुकुमार सेन के "बाँग्ला साहित्येर इतिहास" की शैली में ही है । वे तथ्य-निरूपण करते थे । मूल्यांकन में आत्यंतिकता कहीं नहीं थी । औरों के दोष कम देखते थे । उनके बाद दूसरे कवि-आलोचक हेम बरुआ थे । वे लोहिया समाजवादी थे और अपनी बात को स्पष्टतः कहने में प्रखर थे । 'मॉडर्न ऑसमीज पोएट्री' (कविता-प्रकाशन) की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि बंगालियों ने असमियों को इस तरह दबाये रखा, जैसे जर्मनों ने प्रशियनों को । इन दो अकादेमिक और सामाजिक

प्रतिबद्ध समालोचकों के बाद अब जितने भी आलोचक हैं, वे जीवित हैं। उनके बारे में अन्तिम रूप से कहना कठिन है। परन्तु अकादेमिक समीक्षकों में सत्येन्द्रनाथ शर्मा, लीला गोगोई, त्रैलोक्यनाथ गोस्वामी आदि को लोग मानते हैं। सृजनशील साहित्यकारों में प्रफुल्लचंद्र गोस्वामी, वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य, महेन्द्र बरा, नवकान्त बरुआ, निर्मलप्रभा बार्दलै, होमेन बरगोंहाई आदि अपने-अपने स्वतन्त्र दृष्टि-कोण वाले अच्छे समालोचक हैं। जोगेश दास और सैयद अब्दुल मलिक मार्क्सवादी समालोचक रहे हैं। नवीनतम प्रयोगवादी आलेचकों में कोई बड़ा नाम सहसा सामने नहीं आया है। पर हीरेन बरगोंहाई के एक लेख में मुझे 'ओ-एम' ('ओम') शब्द का प्रयोग बड़ा अच्छा लगा। स्वर्गीय डॉ० डी० डी० कोसंबी आफिशियल मार्क्सिस्ट' को यह संक्षिप्त रूप 'ओ० एम०' कहते थे।

बंगाल में समालोचनात्मक लेखन की एक लंबी परंपरा रही है। हाल में मुझे प्रमथनाथ चौधरी के 'साहित्य-साधना' निबन्ध पुनः पढ़ने पड़े। किसी ने मराठी में मूल बाँग्ला से अनुवाद किया था और मुझे अनुवाद की परीक्षा-निरीक्षा का कार्य महाराष्ट्र सरकार के साहित्य-संस्कृति मंडल ने दिया था। उन्हें पढ़ने पर लगा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर उनसे क्यों इतने प्रभावित थे। बड़ा ही सौम्य और संतुलित उनका लेखन है। संस्कृत काव्य से और अंग्रेज़ी साहित्य से वे सुपरिचित हैं, पर अपनी ज़मीन से जुड़े हुए अधिक हैं। यही बात वहाँ बंकिमचन्द्र, हरप्रसाद शास्त्री, क्षितिमोहन सेन, शशिभूषण दासगुप्त के लेखन में मिलती है। मैं डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० असित बंद्योपाध्याय आदि अनेक बाँग्ला शास्त्रीय समालोचकों को जानता था और हूँ। उनके अध्ययन का पट विशाल है और दृष्टि इतिहास और दर्शन दोनों आयामों को छूती हुई चलती है। गोपीनाथ कविराज की 'साहित्य-चिंता' ऐसी ही अद्भुत् पुस्तक है।

सृजनशील साहित्यकारों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े प्रभाव के बाद, जो सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़े हैं और जो उस तरह के मताग्रह का विरोध करते हैं और व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी हैं; मैं दोनों तरह के अनेक बड़े लेखकों के संपर्क में आया हूँ। हुमायूँ कबीर और अबू सैयद अयूब, अन्नदाशंकर राय और अरविन्द पोद्दार, गोपाल

हालदार और शिवनारायण राय, बुद्धदेव बसु और संतोषकुमार घोष ऐसे कई लेखकों के व्यक्तित्व और लेखन से मैंने सीखा है। मार्क्सवादी और मार्क्सवाद-विरोधी दोनों तरह के लेखक काफी गहराई से अध्ययन करते हैं। बाँग्ला में मूल रूसी, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं से अनुवाद भी काफी हुए हैं। परन्तु मैंने प्रायः सभी बंगाली लेखकों में एक विशेष प्रकार की प्रदेशप्रियता देखी है। वे प्रथम बंगाली होते हैं, बाद में किसी भी विचारधारा के पोषक। अतः उनका सांस्कृतिक मूलाधार इतना पक्का होता है कि वे कितने ही पश्चिम-प्रशंसक या रूस, चीन-प्रशंसक क्यों न हो जायें, वे बंगाल को सर्वोपरि मानते हैं। नीरद चौधरी जैसे भारत-छिद्रान्वेषी भी बंगाल के मामले में थोड़े बचाकर लिखते हैं। इस प्रकार की प्रादेशिकता से सीमित दृष्टिकोण के कारण वे अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति उतने खुले हुए नहीं हैं। रामचन्द्र शुक्ल जन्म-शताब्दि के सिलसिले में एक-दो बाँग्ला विभागाध्यक्षों से मिलने गया। उन्होंने साफ तौर से कहा कि यह नाम उनके लिए अपरिचित था। बंगाल में बौद्धिक खण्डन-मण्डन, चर्चा-प्रतिचर्चा ऊँचे स्तर पर चलती रहती है—विशेषतः उनकी साहित्यिक पत्रिकाओं में 'प्रवासी', 'भारतवर्ष', 'चतुरंग', जिज्ञासा', 'कवि ओ कविता', 'काली ओ कलम' जैसे पत्रों में और 'देश' और 'आनन्द-बाजार', 'युगान्तर', 'आजकल' जैसे दैनिकों में भी। व्यक्तिगत आलोचना मैं बहुत कम देखता हूँ। हिन्दी में साप्ताहिकों, मासिकों में सिद्धान्तों से अधिक व्यक्ति-चर्चा प्रमुख हो गयी है। वह भी अपने-अपने कस्बे, जनपद या गुट की 'परस्परं भावयंतः' अधिक।

उड़ीसा में मैं १६४८ में कटक गया था, तब से सात वर्ष तक जब संबलपुर में एक साहित्य-समारोह में मैं प्रमुख अतिथि था, दसियों बार गया हूँ। पुरानी पीढ़ी के विद्वान् और इतिहासकार डॉ० अर्त्ति-वल्लव मोहान्ती या नीलकंठदास जैसे लोग कब कहाँ हैं ? केवल हरिकृष्ण महताब हैं जो आलोचक नहीं माने जाते। सृजनशील साहित्यकार और उत्तम समालोचक डॉ० मायाधर मानसिंह से अकादेमी ने साहित्येतिहास लिखवाया। बाद के समालोचकों में डॉ० के० बी० त्रिपाठी, बंसीधर महांती से लगाकर गोपालचन्द्र मिश्र और नित्यानन्द शतपथी तक अनेक प्राध्यापक हैं जो अपने-अपने ढंग से

साहित्य के काल-विशेष या प्रवृत्ति-विशेष पर लिखते रहे। वैसे अंग्रेज़ी में सीताकांत महापात्र, जे० पी० दास आदि ने कुछ उत्तम समालोचना-निबन्ध लिखे हैं। सरोजरंजन आचार्य, चन्द्रशेखर रथ, नित्यानन्द महापात्र, असित कवि आदि पत्रकारों का भी कम योगदान समालोचन में नहीं है। परन्तु इस भाषा में भी अभी असमिया की तरह ही साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के पाठक बहुत कम हैं और विकास की बड़ी गुंजाइश है।

जहाँ पूर्वांचल की साहित्य-समालोचना पर वहाँ के धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक मत-विश्वासों का गहरा असर है, आधुनिकतावाद बाँग्ला को छोड़कर अन्य भाषाओं में अभी पूरी तरह साहित्य में रच-पच नहीं गया है। विदेशी साहित्य-चर्चा बाँग्ला में बड़ी मात्रा में होती रहती है, औसत शिक्षित बंगाली की संस्कृति का जैसे वह अंग हो गई है। एक कारण यह है कि आसाम और उड़ीसा में अनुसूचित जनजातियों या आदिवासियों की, गिरिजनों की, वन-वासियों की बड़ी संख्या है जिनकी लोकभाषाओं और लोकसाहित्य का समुचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। हमारे आलोचनात्मक मानदण्ड उस साहित्य के लिए नाकाफी हैं, यह मैं आगे मराठी में दलित साहित्य के आन्दोलन के सिलसिले में पुनः बताऊँगा।

दक्षिण की भाषाओं में आलोचकों में पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन और विचार-विवेचन कई दशकों तक चलता आ रहा है। भाषा के स्तर पर वहाँ ग्रांथिक और व्यावहारिक तेलुगु भाषा-शैलियों के परस्पर विरोध और बाद में समन्वय के प्रयत्न हुए हैं। इसलिए एक ओर जहाँ रालपल्लि अनंत-कृषण शर्मा या विश्वनाथ सत्यनारायण, पी० लक्ष्मीकान्तम् और पांडुरंग राव जैसे संस्कृत-प्रेमी क्लासिकवादी आलोचक हैं, वहीं एक-दम दूसरे छोर पर क्रांतिधर्मी रचनाकार श्री श्री और 'आरुद्र', नार्ला और डॉ० सी० नारायण रेड्डी जैसे लोग हैं जो नव्य साहित्य के अनुगामी आन्दोलन के पुरोधा रहे हैं। जब रूढ़ियों के प्रति विद्रोह होता है तो स्वाभाविक है कि पैंडुलम दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। तेलुगु में 'दिगंबरलु' कवियों का आन्दोलन इसी तरह का इतिहास-हंता आन्दोलन था। बाद में वह 'विप्लवी रचनाकार संघ' (विरसम्) में

परिणत हुआ। आरंभ में ये सब आंदोलन सर्व-निषेधवादी (निहिलिस्ट) लगे, परन्तु धीरे-धीरे साहित्य-समालोचना पुनः उसी मध्य-मार्ग पर आ गई।

तमिल की बात दूसरी है। वहाँ जैसे डॉ० ति० पा० मीनाक्षी-सुन्दरम् ने लिखा है—लेखक तीन शिखिरों में बँट गये—कांग्रेसी, डी० एम० के०, और कम्युनिस्ट। धीरे-धीरे वे सब एक जगह आने लगे। और ब्राह्मण-अब्राह्मण लेखकों का पुराना झगड़ा अब उतना मुखर नहीं रहा। कभी ब्राह्मण सत्ता में थे तो युनिवर्सिटियाँ, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य-संस्थाएँ उन्हीं से भरी हुई थीं। अब पलड़ा उलट गया है। अब ब्राह्मण लेखक अधिकतर सत्ता के कटु आलोचक हैं: जैसे राजम कृष्णन् या चौ० रामस्वामी या इन्द्रा पार्थसारथी। पुरानी परंपरित काव्य-परंपरा में अधिकांश, जैसे तिरुवल्लपुवर या इलंगो अडिगल की या संगम कवियों की जात का पता नहीं था। पर बाद में वैष्णव और शैव कविता सवर्णों की मोनौपोली हो गई, यद्यपि नायनमार थोड़े से अपवाद हैं। नवजागरण में भी यू० स्वामीनाथ ऐयर, सुब्रह्मण्य भारती, राजाजी, कल्कि-सभी ब्राह्मण होने से उनके साहित्य का पुनर्मूल्यांकन होने लगा है, और कहा जा रहा है कि कई अच्छे अ-ब्राह्मण लेखकों की तब उपेक्षा हुई। अब गये तीस वर्षों से पाँसा पूरी तरह पलट गया है और इक्के-दुक्के ब्राह्मण लेखक शेष हैं जिन्हें सब तरह के पाठकों की मान्यता-प्राप्त है। अन्यथा, अन्य जातियों, उपजातियों से लेखक आगे आये हैं। और यही कारण है कि तमिल भाषा में गांधीजी के विचारों का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार और समादर हुआ है। एक ओर सनातनियों का वर्ण-दुराग्रह, दूसरी ओर श्रीलंका के सिंहल बौद्ध—दोनों के दबाव-तनाव में तरुण तमिल-लेखक अधिक अंतर्राष्ट्रीय और विद्रोही होता जा रहा है। वहाँ आलोचना के मानदण्ड संस्कृत काव्यशास्त्र या पश्चिम के उच्च मध्यवर्गीय बुद्धि-वादी, समाजवादी विचारों से निश्चित नहीं किये जाते। उनकी अपनी प्रादेशिक अस्मिता पर उन्हें गर्व है, और परिणामस्वरूप, वे उत्तर से कहीं अधिक प्राचीन और देशज परंपरा-सूत्रों की खोज में लगे हैं। तिरुवलुवर पर हुए एक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार के प्रलेख अंग्रेजी में छपे हैं जिसकी डॉ० संजीवी उसके संपादक हैं। उन्हें या 'तमिल कल्चर'

पत्रिका के अंकों को पढ़ने पर प्रादेशिक विशिष्टता का स्वर प्रधान रूप से सुनाई देता है।

साहित्य-समालोचना के नवीनतम विचारों में यह प्राणिशास्त्रीय-नृवंशशास्त्रीय विचार प्रधान है। इसे पश्चिम वाले 'एथनिक' कहते हैं, 'बायो-एंथ्रौपौलोजिकल' कहते हैं। इस बात का विचार इस दृष्टि से और भी करना चाहिए कि ज्यों-ज्यों टैकनोलौजी एक 'विश्व मानव', विश्व के एक परिवार जैसे मानकीकरण की ओर तेजी से बढ़ती है; मनुष्य अपनी भावनात्मक सुरक्षा के लिए संस्कारों के कवच की शरण लेता जाता है। 'आइडियौलौजी' या विचारधारा का कवच अब इतना अवध्य नहीं रहा। मलयालम साहित्य "ऐक्य केरल" के नारे के नीचे एक समय एक-सी पुरोगामी विचारधारा की तहत वामपंथी हो गया था। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सभी लेखक, वल्लत्तोल जैसे परंपरावादी और पी० केशवदेव जैसे परंपराभंजक एक ही ध्वज के नीचे एकत्र होते हुए दिखाई देते थे। पर पुनः मलयालम भाषा में मल्लावरम् की मुस्लिम, और दक्षिण केरल की ईसाई भाषा-शैलियाँ पनपने लगीं—प्रादेशिक उपन्यासों और कथाओं के नाटक और फिल्मों के माध्यम से वह उभरने लगीं—और आज संस्कृतमयी शैली केवल वर्णनात्मक गद्य, आलोचना की भाषा में ही दिखाई देती है। खाड़ी के देशों के साथ संपर्क बढ़ने से कोषीकोड (कालीकत) के 'माप्पिला' जमात की भाषा उर्दू-अरबी-बहुल हो गयी। भारत में स्वराज्य के बाद, मुस्लिम लीग की पुनः स्थापना, कांग्रेस के साथ गठबन्धन करके उस पक्ष का मंत्रिमण्डल बनना, हिन्दू और ईसाइयों के कन्याकुमारी विवेकानन्द स्मारक को लेकर दंगे, इस बात के द्योतक हैं कि साम्यवाद वहाँ सब को, भीतर से, पूरी तरह, एक नहीं कर पाया है। न धर्म-निरपेक्षता का नारा उन्हें वैज्ञानिक भौतिकवाद की ओर ले जा सका है। आश्चर्य-जनक बात यह है कि आर्थिक समृद्धि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, जैसे उत्तर केरल में, या पंजाब में—त्यों-त्यों उसके साथ भारत में धर्मान्धता या "फंडामेंटलिज़्म" भी अपना सिर उठा रहा है। दक्षिण महाराष्ट्र के चीनी उद्योग सम्राटों (सुगर-किंग्ज़) का प्रच्छन्न समर्थन शिवसेना को, या स्मगलरों का झोंपड़पट्टी के गुण्डों को नहीं था, ऐसा दावे से नहीं कहा जा सकता है। साहित्य की राजनीति की चर्चा मैंने इशारे

से इसलिए की कि हिन्दी-भाषाभाषी प्रदेशों को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि औद्योगीकरण के साथ भिलाई और दुर्गापुर, सिंदरी और कानपुर, फरीदाबाद या कोटा के नव-निर्माण से ही जनसाधारण में बेदारी आ जायेगी और कट्टर सांप्रदायिकता या रहस्यमय 'अवधूत'-पंथ या राणी सती के पूज्य अनुकरण का पुनरुज्जीवन वहाँ कम हो जायेगा। यह मानकर चलना भूल-भरा है, अतिसरलीकरण है।

आधुनिक तंत्र-विज्ञान और जादू-टोना या ओझागिरी के परस्पर-संबंध की चर्चा यहीं तक करके मैं पुनः इस बात की ओर आना चाहता हूँ कि हिन्दी में योजनाबद्ध रीति से अन्य भारतीय भाषाओं के उत्तम, समालोचनात्मक ग्रंथों का अनुवाद प्रस्तुत करना चाहिए। साहित्य अकादेमी के पुरस्कार-प्राप्त ग्रंथों में से ही चुनें तो सईद अय्यूब का बाँग्ला में 'रवीन्द्रनाथ ओ आधुनिकता' या मराठी में मर्ढेकर का 'सौन्दर्य आदि साहित्य' और रा० भा० पाटनकर का 'सौंदर्य-मीमांसा' या गुजराती के रामनारायण पाठक के 'बृहत् पिंगल', असमिया से अतुलचन्द्र हज़ारिका का 'मंचलेखा', कन्नड़ से शं० बा० जोशी का 'कर्नाटक संस्कृति पूर्व पीठिकै', या आद्यरंगाचार्य का 'कालिदास', तेलुगु से पोनंगी श्रीराय अप्पाराव का 'नाट्यशास्त्रमु' जैसे ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी को अधिक समृद्ध करेगा। सभी भाषाओं की ऐसी साहित्य-समालोचनात्मक ग्रंथों की सूचियाँ हमें उपलब्ध करानी चाहिए और किसी संस्था को उन पर योजनाबद्ध तरीके से अनुवाद-विचार करना चाहिए। अपने इस भाषण में मैं विचारार्थ दो सूचियाँ दे रहा हूँ : एक मलयालम की और दूसरी मराठी की। केरल साहित्य अकादमी के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने पर दिसंबर '८३ में एक ग्रंथ का विमोचन हुआ : 'भारतीय साहित्य चरित्र'। उसी में दी हुई मलयालम की ऐसी ही एक सूची डॉ० के० एम० जार्ज और श्री ए० नारायणन ने अपने-अपने निबन्धों में दी है :

(१) पी० शंकर नाबिया—साहित्यनिष्कुटम्
(२) एम० पी० पाल—साहित्य-विचारम्
(३) डी० पी० उन्नी—साहित्य-सरणि
(४) के० एन० एबुत्तच्छन—किरणंगल
(५) काटटुमातम—मलयाल्न नाटकंगलिलूडे

(६) के० भास्करन नायर — दैवनितुक्कु दक्षिण्यमिल्ला
(७) सुकुमार अषिकोड — आशानुते सीताकाव्यम्
(८) ए० पी० पी० नंबूतिरी — कवितैलेक्कु आरु कैथिरी
(९) एम० कृष्णन नायर — आधुनिक मलयाल कविता
(१०) पी० के० परमेश्वर नायर—भावरश्मिकल
(११) ई० एम० जे० बेण्यियूर — गेएटे
(१२) एन० कृष्ण पिल्लै — तिरंजेदूत प्रबंधगल
(१३) के० पी० शंकरन — सप्पीपरम्
(१४) एम० एम० बशीर — कवितयिले चिल प्रश्नंगल
(१५) जार्ज इरुँपालम् —कवितयुटे भावि
(१६) के० एस० नारायण पिल्लै कविता वाशितिरिविल
(१७) एम० अच्युतन — कवितायुम कालवुम
(१८) टौम जोस—काव्यतिने भिन्न मुखंगल
(१९) वी० टी० गोपालकृष्णन् — प्रसादम्
(२०) एम० के० सानु राजवीथि
(२१) के० रामचन्द नायर — रेखारूपक
(२२) अकबून नारायण—वकतिरुवु
(२३) एन० वी० कृष्ण–वारियर—परिप्रेक्ष्यम्
(२४) के० पी० अप्पन शौथिकुकन्नवरुते सुविशेषणम्
(२५) डॉ० के० एम० जार्ज--अन्वेषणंगल पठनंगल

कर्नाटक में साहित्य-समालोचनात्मक विचार "कवि राजमार्ग" के समय से चला आ रहा है। परन्तु आधुनिक काल में नवजागरण के साथ-साथ श्री वी० एम० श्रीकंठय्य ने और बाद में वी० सीतारामय्य और गुंडप्पा, मूर्तिराव और आद्यरंगाचार्य, गोकाक और मुगलि, जवरे गौड़ा और ह० मा० नायक ने ऐसे अनेक ग्रंथ लिखे हैं जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के मानक ग्रंथ हैं। इनसे भी चुने हुए ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद अवश्य होना चाहिए। केवल साहित्य के इतिहासों के अनुवाद काफी नहीं होते।

उदाहरणार्थ, कन्नड़ साहित्य में पुरानी और नई पीढ़ियों का, पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारधाराओं का, रहस्यवादी और नव-मानवतावादी विचारधाराओं का द्वंद्व नहीं हुआ है। आधुनिक काल

में इतिहास को कैसे प्रस्तुत किया जाये, इसी पर घोर विवाद हो गया। मास्ति वेंकटेश अय्यंगार का एक उपन्यास 'चैन्नवीर कणवी' साहित्य अकादेमी द्वारा अनुवाद कार्य के लिए चुना गया। आधा अनुवाद हो भी चुका था कि सन् १९५८ में उसके विरोध में तार पर तार आये और हुमायूँ कबीर को वह अनुवाद रोक देना पड़ा। आश्चर्य की बात यह है कि उसी रानी के चरित्रहीन होने पर "रक्ताक्षी" नामक ग्रंथ के० वी० पुट्टप्पा ने भी लिखा। परन्तु उस पर कोई आक्षेप नहीं लिया गया। अनेक वर्षों बाद मास्ति को साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला और इस वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ का पुरस्कार उन्हीं मास्ति के एक दूसरे उपन्यास को दिया गया। यह विचित्र संयोग की बात है कि मास्ति अब नब्बे से ऊपर वय-प्राप्त हैं। साहित्यिक मूल्यांकन में जातिवाद का रोड़ा केवल दक्षिण की भाषाओं में भी अटकता हो, यह सच नहीं। उत्तर में भी यह सब समस्याएँ हैं--कश्मीरी, डोगरी में, हिन्दू, सिख पंजाबी लेखकों में हिन्दू-मुस्लिम, उर्दू लेखकों में। हिन्दी की जातियाँ, उपजातियाँ और प्रादेशिक संकीर्णता से आप अधिक सन्निकट और सुपरिचित हैं।

कन्नड़ साहित्य में तमिल या मलयालम की तरह से, तुलनात्मक दृष्टि से आत्यंतिक 'एथनिक' या 'ऐंटी-एथ्निक' आन्दोलनों का इतना परिणाम नज़र नहीं आता। रूढ़िवादी सनातनी (जैसे मास्ति वेंकटेश अय्यंगार), गांधीवादी (जैसे आर० आर० दिवाकर), अरविंदवादी (जैसे बेंद्रे, गोकाक, मुगलि आदि), समाजवादी (जैसे शिवराम कारंत), नव्यवादी (जैसे गोपालकृष्ण अडिग, रामचन्द्र शर्मा), सभी महत्त्वपूर्ण लेखक ब्राह्मण या उच्चवर्णीय हैं। लिंगायतों में और ओवकलिगों में पुट्टप्पा चेन्नवीर कणवी आदि अरविंदवादी रहे, परंतु विद्रोही स्वर वाले लेखक ही अधिक हैं। दलित लेखकों का सारा वर्ग अब पुराने लेखकों को ललकार रहा है। लंकेश आदि उस सारी विचार-पद्धति का निषेध कर रहे हैं। यू० आर० अनंतमूर्ति, गिरीश करनाड, देवनूर आदि की सहानुभूति भी उसी आने वाले जाति-पाँतिविरहित समाज की ओर है। ऐसे समय आलोचना के मान संस्कृत काव्यशास्त्र तक सीमित नहीं हैं, न राजवंशियों की ठकुरसुहाती तक। अरविंदवाद का प्रभाव भी अब अत्यन्त क्षीण होता जा रहा है।

दक्षिण के चार प्रदेशों के साहित्यिक परिदृश्य से हिंदी समालोचना को भी सतकर्ता-बोध ग्रहण करना चाहिए। हिन्दी प्रदेशों में अधिकतर लेखक उच्च सवर्ण-द्विज कोटि से थे। ब्राह्मण अधिक, क्षत्रिय, कायस्थ उनसे कम, वैश्य और भी कम। पर यह त्रैराशिक अब बहुत जल्दी समाज और साहित्य में, जनयुग में, उलटने जा रही है। गाँव-गाँव तक बिजली और सैटेलाइट उपग्रहों से विश्व-समाचार पहुँच रहे हैं। मूल्यों की वह पुरानी चौखट ज्यों की त्यों नहीं रहने वाली है। गये दस वर्षों के भीतर कितने काव्य, नाटक, उपन्यास, इस जाति-पाँति के प्रश्न पर हिन्दी में लिखे और अनुवादित किये गये हैं, उन पर विचार करें। यहाँ 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल', 'मेरी तेरी उसकी बात', 'महाभोज', 'एकलव्य', 'शंबूक', 'जाति न पूछो साधु की', 'अछूत' आदि की ओर संकेत मात्र कर रहा हूँ।

पश्चिमांचल में मराठी, गुजराती, सिंधी भाषाओं में मराठी और गुजराती में साहित्य-शास्त्रीय ग्रंथों की एक पूरी परंपरा रही है। महाराष्ट्र में घर-घर में संस्कृत-अध्ययन की एक समृद्ध परंपरा इस शती के पूर्वार्द्ध तक रही। इसी कारण ज्ञानेश्वर इतनी छोटी उम्र में इतनी सुन्दर सुश्लिष्ट संस्कृत-बहुल महाकाव्य-रचना तेरहवीं सदी में कर गये। उसी महाराष्ट्र में गत सप्ताह मैंने दलित पैंथर नामदेव ढसाल का भाषण पढ़ा है जिन्होंने उनके पूर्ववर्ती लक्ष्मण माने की बात को कि सारा मराठी साहित्य साढ़े तीन प्रतिशत लोगों का रहा है, आगे बढ़ाया है। ढसाल के मत से तुकाराम एकमात्र कवि थे जो अब्राह्मण होने से जनसाधारण के दुःख-दर्द को समझते थे। शेष प्राचीन कवि और लेखक सब जाति-भेद से आविष्ट समाज की रूढ़ियों को तोड़ने में सफल नहीं हुए। उनके मत से 'केशवसुत' का भी प्रगतिवाद केवल शाब्दिक और घोषणात्मक है। समाज की धारणाओं पर आघात केवल मर्ढेकर ने किया। उनके बाद के कवि भी छद्म-समाजवादी और छद्म-मानवतावादी हैं—ऐसा दलितों का मानना है।

नामदेव ढसाल या तत्सम दलित पैंथरों की हर बात हम मान्य न भी करें तो भी एक बात तो स्पष्ट है कि गये दो दशकों से साहित्य के मानदण्डों में एक ज़ोरों की उथल-पुथल आ गयी है। साहित्य की समालोचना भी चुप नहीं बैठी है। गये दशक में मराठी में दलित

साहित्य-समालोचन पर दमियों महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निकले हैं। फिर भी जो प्राचीन शास्त्रों पर आधारित या पाश्चात्य विचारों पर खण्डन-मण्डनात्मक आलोचना, विचार-मंथन हुआ है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। महाराष्ट्र में समाज-शास्त्रीय और राजनैतिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर भी प्रचुर वैचारिक साहित्य उपलब्ध है। इस कारण से आलोचना का स्तर काफी ऊँचा है। व्यक्तिनिरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ, कठोर, सैद्धान्तिक समालोचना भी कम नहीं हुई है। उदाहरण के लिए—मराठी की कुछ परंपरित मान्यता-प्राप्त प्रमुख समीक्षा-सिद्धान्त-विषयक कृतियाँ देखिये--

(१) विष्णुशास्त्री चिपलूणकर--संस्कृत कविपंचक
(२) न० चि० केलकर--हास्य-विनोद-मीमांसा
(३) वा० ब० पटवर्धन--काव्य आणि काव्योदय (१६०६)
(४) डॉ० श्री० व्यं० केतकर--महाराष्ट्रियांचे काव्य-परीक्षण (१६२८)
(५) अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी--मराठी रंगभूमि (१६०३)
(६) रा० श्री० जोग--अभिनव काव्य-प्रकाश (१६३०)
(७) ,, सौन्दर्यशोध आणि आनंदबोध (१६४३)
(८) द० के० केलकर--काव्यालोचन (१६३७
(९) य० रा० आगाशे--सारस्वत-समीक्षा (१६३४)
(१०) ना० सी० फडके--साहित्य आणि संसार
(११) ,, --प्रतिभासाधन
(१२) डॉ० मा० गो० देशमुख–मराठीचे साहित्यशास्त्र (१६५५)
(१३) ,, --भावगंध (१६५३)
(१४) के० ना० वाटवे--रस-विमर्श (१६४२)
(१५) रा० श० वालिंबे--साहित्य-मीमांसा (१६५५)
(१६) श्री के० क्षीरसागर--सुवर्ण तुला
(१७) ,, --टीकाविवेक
(१८) डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे--सौन्दर्याचे व्याकरण (१६५६)
(१९) ग० त्र्यं देशपांडे--भारतीय साहित्यशास्त्र (१६५८)
(२०) बा० सी० मर्ढेकर--सौन्दर्य आणि साहित्य
(२१) प्रभाकर माध्ये--मर्ढेकरांची सौंदर्य-मीमांसा

(२२) रा० भा० पाटणकर--सौंदर्य मीमांसा
(२३) शरच्चन्द्र मुक्तिबोध--सौंदर्य आदि साहित्य सृष्टि
(२४) नरहर कुरुंदकर-- रूपवेध रस सूत्राचे भाष्यकार आदि
(२५) रा० ग० जाधव--दलित साहित्य

गुजराती में उस तुलना में इतनी महत्त्वपूर्ण समालोचना-सिद्धान्त-विषयक किताबें नहीं हैं। यद्यपि मैंने आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव, रामनारायण पाठक, रमणलाल भट्ट, काका कालेलकर, विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, उमाशंकर जोशी, सुरेश जोशी, अनिरुद्ध ब्रह्मभट्ट, अनंतराय रावल, मनसुखभाई झवेरी, सुरेश जोशी, सुरेश दलाल आदि के निबंध-संग्रह, साहित्य-सर्वेक्षण और स्वतन्त्र ग्रंथ भी पढ़े हैं। फिर भी गांधी जी के प्रभाव से आई थोड़ी-बहुत नई दृष्टि को छोड़ गुजराती समीक्षा का अपना स्वतन्त्र अवदान कम है। गुजराती-भाषी समाज व्यापार-प्रधान समाज है। उनकी दृष्टि भी विशेष संतुलनात्मक है। आत्यंतिक विचारधाराएँ जो हिंसा पर आश्रित हों जैसे अंध हिंदुत्ववाद या अंधराष्ट्रवाद, उग्र साम्यवाद या दलित पैंथर जैसे आंदोलन गुजराती में कम पाये जाते हैं। कुछ तिर्यक् या विवादी स्वर हैं, जैसे लाभशंकर या सुरेश जोशी आदि। परन्तु समालोचना-साहित्य बहुत कुछ परंपरागत पटरी पर ही चलता चला आ रहा है।

सिंधी में तो आलोचना-साहित्य और भी कम विकसित है। राम पंजवानी या प्रो० अजवानी जैसे या एम० यू० मलकानी और अरजन शाद जैसे प्राध्यापक आलोचक हैं, तो दूसरी ओर उत्तम, गोविन्द मलकाणी, नागरानी जैसे पत्रकार आलोचक। गद्य हाल ही में अधिक विकसित हुआ है। स्वराज्य के बाद भारत-विभाजन से पंजाबी और उर्दू की तरह इस भाषा के साहित्य-संसार को आघात पहुँचा है। विकास के लिए अधिक क्षेत्र भी नहीं है, चूंकि साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ कम हैं, प्रकाशक और प्राध्यापक भी कम हैं। यह भाषा भी व्यापार तथा उद्योग-प्रधान समाज के बिखरे हुए लोगों की भाषा होने से इस भाषा की साहित्य-विषयक चिंता का एकाग्र प्रभाव कम दिखाई देता है। दासवारी, लक्ष्मण खूबचंदानी जैसे भाषातत्त्वविद्, मोतीलाल जोतवाणी जैसे तुलनात्मक साहित्यवेत्ता और जेटली जैसे अध्यापक अपने-अपने ढंग से इस भाषा को समृद्ध बनाने में लगे हैं। समता जी ने बौद्ध-साहित्य पर अच्छा अध्ययन किया है।

उत्तरांचल में कश्मीरी के संबंध में बहुत कहने लायक नहीं है। कारण यह है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में इस भाषा का जो भी विकास हुआ है, वह सरकारी सहायता के ही सहारे हुआ है। जे० एन० कौल और पृथ्वीनाथ 'पुष्प' ने अंग्रेज़ी में इस भाषा और साहित्य पर काफी लिखा है। ब्रजकाचरन हाजिनी की कुछ अच्छी किताबें भाषातत्त्व पर हैं। पर कुछ मिलाकर यहाँ आलोचना-साहित्य का अपना विशिष्ट अवदान अलग से उल्लेखनीय रूप से नहीं नज़र आता। कुछ आलोचक उर्दू से आतंकित हैं--पहले प्रगतिवादी खेमे से, अब 'नये ज़ाबिये' से।

पंजाबी में अवश्य क्लासिक, रोमैंटिक, अकादेमिक, मार्क्सवादी, नव भाषा-संरचनात्मक सब प्रकार की साहित्य-समालोचना मिल जायेगी। और मेरी जानकारी के अनुसार हर विधा और विभाग में दो-चार अच्छे लेखकों के नाम दिये जा सकते हैं। पुराने समालोचकों में भाई वीरसिंह, प्रो० तेजसिंह, त्रिलोचन सिंह, डॉ० मोहनसिंह दीवाना, प्रो० प्रीतमसिंह, प्रो० हरबंससिंह जैसे नाम लिये जा सकते हैं। प्राध्यापकीय आलोचकों में भी इनमें से रोमैंटिक आलोचकों में अधिकतर सृजनशील साहित्यकार—कवि, उपन्यास-कथाकार, नाटककार तथा निबंध-लेखक हैं। अध्यापक पूर्णसिंह, गुरुबख्शसिंह, प्रो० मोहनसिंह, अमृता प्रीतम, करतारसिंह दुगाल, बलवन्त गार्गी आदि कई नाम लिये जा सकते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों में संतसिंह सेखों, जगजीतसिंह, अतरसिंह, कुलदीपसिंह आदि हैं। 'नये' आलोचकों में हरभजनसिंह, गुरुबचनसिंह, तालिब, सुरिन्द्रसिंह नरुल्ला आदि हैं। पंजाबी भाषा में भी आधुनिकतावाद बड़ी तेजी से आया है। जैसे-जैसे 'पंजाबीयत' की चर्चा ज़ोर पकड़ती गई, एक विचित्र ढंग का बढ़ता हुआ परात्मभाव (एलियनेशन) उस साहित्य में भी नज़र आता जा रहा है। भाषा के साथ-साथ प्रादेशिकता का दुराग्रह मिलने से क्या होता है, यह हमारे देश ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय ही जाना था। बाँग्लादेश ने १६७१ में पुनः जाना। फिर भी हम उससे कम सीख ले सके हैं।

उर्दू भाषा की चर्चा करना इसलिए आवश्यक है कि उसमें गद्य और वह भी आलोचनात्मक गद्य बहुत कम उम्रवाला है। पर यहाँ भी हाली के 'मुकद्दमा ओ शेरो-शामरी' से यूसुफ हुसेन खाँ के 'ग़ालिब'

और 'आहंगे ग़ालिब' तक का पुराने ढंग का शास्त्रीय आलोचना का सिलसिला बरक़रार है। मसूद हुसेन रिज़वी का 'उर्दू ड्रामा और स्टेज' का इतिहास, रशीद अहमद सिद्दीकी की 'ग़ालिब की शख्सियत और शायरी' या एजाज़ हुसेन का 'उर्दू साहित्य का इतिहास' इसी क़िस्म की किताबें हैं। फिर उर्दू के रोमैंटिक कवियों में किसी ने आलोचना विशेष नहीं लिखी, कविताएँ ही लिखीं —जिगर या अख्तर शीरानी, मजाज़ या साग़र निज़ामी हफ़ीज़ जलंधरी या साहिर लुधियानवी की कोई इस तरह की किताबें नहीं हैं। प्रगतिशील आन्दोलन में कवि-उपन्यासकारों के साथ आलोचकों ने भी काफी आलोचनात्मक लिखा, मसलन फिराक़ 'गोरखपुरी', 'मजनूँ' सुलतानपुरी, सज्जाद ज़हीर, कृशनचन्दर, सरदार जाफ़री के साथ-साथ डॉ० अब्दुल अलीम और एहतेशाम हुसेन, मुहम्मद हसन, जगन्नाथ 'आज़ाद' और डॉ० ज़ोय अन्सारी भी मिलते हैं। वलीमुद्दीन अहमद, हसन अस्करी, आलम खुंदमीरी या अब तीसरे नज़रिये वाले गये क्रिटिक अपने-अपने अलग मुक़ाम रखते हैं। मैंने यहाँ पाकिस्तान में लिखने वाले उर्दू लेखकों का ज़िक्र जान-बूझकर नहीं किया है। जैसे बाँग्ला में बाँग्लादेश के लेखकों का नहीं किया।

इन सभी भाषाओं की तुलना में हिन्दी की वर्तमान आलोचना का विचार करें, तो बहुत अधिक चिंता करने की बात नहीं है। हम भाषाएँ चाहें अलग-अलग बोलते हों, हमारे सबके ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक संस्कार समान रहे हैं। यदि आसाम में मैदानी और पहाड़ी लेखकों के बीच अलगाव की समस्या है, तो हिन्दी-भाषी अंचल में भी दोआबे के लेखक और पहाड़ी अंचल के लेखक, हिमाचल प्रदेश के 'शिखरवादी' लेखक परस्पर से कटे हुए हैं। यदि एक पहाड़ी व्यक्ति संपादक हो जाता है, तो उसके पत्र में अधिक पहाड़ी लेखक लिखने लग जाते हैं। शायद यह स्वाभाविक भी है। बंगाल में पूर्व और पश्चिम बंगाल की भाषाओं के लेखकों में तरतमता है। वही भाव हिंदी की उपभाषाओं में लिखने वालों के प्रति खड़ीबोली के लेखकों का दिखाई देता है। मैथिली और राजस्थानी के लेखक हिन्दी से छिटकते जा रहे हैं, जैसे कोंकणी के मराठी से, या सौराष्ट्र के गुजरात के लेखकों से। उड़ीसा में जनजातियों के जीवन के पुनराध्ययन

की ओर लेखक जुटे हैं। गोपीनाग महांती ने 'कोंध' आदिवासियों पर 'अमृत-संतान' लिखी, सीताकान्त महापात्र ने 'ट्राइबल पोइट्री' का अनुवाद 'वियांड दि वर्ड' में किया, वैसा ही हिन्दी में भी आंचलिक उपन्यासों में अछूते ग्राम-जीवन, गिरि-वन जीवन पर लिखने की प्रथा रूढ़ होती जा रही है। दक्षिण के अंचल के सवर्ण-अवर्ण जाति-उपजाति के प्रश्न हिन्दी-भाषी लेखकों को भी उद्वेलित कर रहे हैं। समुद्र-किनारे के जीवन पर जैसा लेखन उन-उन प्रान्तों में हुआ, हिन्दी-भाषी लेखक भी नदी-किनारों पर 'बहती गंगा', 'गंगा मैया', 'वरुण के बेटे', 'सागर मुद्रा', 'नाव के पाँव' और 'कुआनो नदी' लिखते रहे हैं। हाल में सोन नदी के किनारे की संस्कृतियों पर एक उत्तम पुस्तक बिहार से छपी है।

समालोचना के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा योगदान रहा है जो अपने आप में एक शोध विषय है। उदाहरणार्थ कुछ पत्र-पत्रिकाएँ, जैसे—

असमिया —'जोनाकी' से 'रामधेनु', 'असम साहित्य पत्रिका' तक

उड़िया — 'उत्कल दीपिका' से 'झंकार' और 'समाज' तक

बाँग्ला —'विविधार्थ-संग्रह' से 'चतुरंग', 'जिज्ञासा', 'कवि ओ कविता' तक

हिन्दी—'आनंद-कादंबिनी', 'हिंदी प्रदीप', 'सरस्वती' से 'कल्पना', 'प्रतीक', 'माध्यम', 'ज्ञानोदय', 'समीक्षा', 'आलोचना', 'दस्तावेज', 'साक्षात्कार' तक

मराठी—'केसरी', 'निबन्धमाला', 'विविध ज्ञान विस्तार', 'रत्नाकर', 'नवयुग', 'अभिरुचि', 'छंद', 'नवभारत', 'अनुष्ठुंम', 'आलोचना', 'सत्यकथा' और 'ललित' आदि

गुजराती—'सुदर्शन', 'बुद्धिप्रकाश', 'रुचि' 'ग्रंथ', 'संस्कृति' आदि

मलयालम - 'विद्याविलासिनी', 'विद्याविनोदिनी' से 'केरल साहित्य पत्रिका' आदि तक

तमिल—'उदय-तारह', 'ज्ञान-भानु', 'मणिक्कोडि' से 'कलै-महल', 'आमुद सुरभि', 'मंजरी' तक

तेलुगु—'चिन्तामणि', 'विवेकवर्धिनी', 'सरस्वती', 'स्रवंती' आदि से 'आंध्र पत्रिका', 'भारती', 'आंध्र प्रथा', 'इन्नाडु' तक

कन्नड़—'हितबोधिनी', 'सुदर्शन', 'कर्नाटक काव्य-मंजरी', 'सुवासिनी', 'विवेकोदय' से कन्नड़ साहित्य परिषद् की पत्रिका, और 'संयुक्त कर्नाटक', 'जनवाणी', 'प्रजामत', 'सुधा' तक

पंजाबी—सिंह सभा की पत्रिका से 'प्रीतलडी', 'पंजदरिया', 'आलोचना', 'नागमणि', 'आरसी' तक

यह सूची और भी बड़ी हो सकती है। बहुत कम प्रयत्न हुआ है कि इन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुए स्थायी साहित्य की सूचियाँ ही बनाई जायें। वस्तुतः इन पत्रिकाओं ने ही जनरुचि का निर्माण किया है।

अन्त में, मैं इन तीन व्याख्यानों के सारांश-रूप में कुछ प्रश्न उठाना चाहता हूँ जो आलोचना के एक तरह से शाश्वत प्रश्न हैं, परन्तु उनके साथ ही हर युग में, हर साहित्यिक नये आंदोलन के साथ पुनः हमें उठाना पड़ता है। यह प्रश्न मैं दस विचार-सूत्रों के रूप में आप जैसे सुधी विद्वज्जनों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत करता हूँ।

(१) सबसे पहला प्रश्न प्राचीन साहित्य के विषय में है। जहाँ उस काल की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति भी विशेष उपलब्ध नहीं, जहाँ कवियों के जीवन के विषय में तथ्य उपलब्ध नहीं, जहाँ जो बोला गया या बाद में लिख लिया गया, उसमें भी विपुल पाठभेद हैं और कई तरह की टीकाएँ जहाँ उपलब्ध हैं, ऐसे संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश या आरंभिक और मध्ययुगीन पद्य-साहित्य की समालोचना किस तरह से की जाये ? वहाँ ऐतिहासिक या कवि-जीवनपरक या धर्म-विश्वासवाली आलोचना-पद्धतियाँ नाकाफी होती हैं। व्यास या वाल्मीकि, भास या भवभूति, कालिदास या शूद्रक, नाथ-सिद्ध कवि, कबीर या चण्डीदास के साहित्य को लेकर इस तरह के प्रश्न उठाये गये हैं, और आज भी उठाये जाते हैं।

(२) दूसरा प्रश्न विशिष्ट धार्मिक मत-पंथ के या संप्रदाय-विश्वासी संत और भक्त कवियों के बारे में है। क्या उनकी कविता को उनके विश्वासों से अलग करके देखा जा सकता है? तुलसी या सूर, नानक या दादू, एकनाथ या रामदास, कबर या आंडाल, शंकरदेव या भीमभाई, आखो या बसवेश्वर—उदाहरण के तौर पर कुछ नाम मैं ले रहा हूँ जिनमें सगुण-निर्गुण, संप्रदाय-विरोधी, रूढ़ि-निंदक और सुधारक कवि भी हैं। उन सब को किस दृष्टि से देखा जाये? उनको एक ही मानदण्ड से तौलना संभव नहीं होगा। क्या यह उचित है कि सबको एक ही निकष से देखा-परखा जाये?

(३) मध्ययुगीन कविता में मुख्यतः वीररसात्मक और श्रृङ्गार-परक, दो तरह की कविता, सब भाषाओं में मिलती है। वीररस के कवि स्पष्टतः किसी अन्यायी राजा या सत्ता के विरोध में लिखते हैं। युद्ध-वर्णनों में शत्रु पर प्रहारों का, हिंसा का समर्थन करते हैं। ऐसे समय आलोचक क्या उस वीर कवि, भाट या चारण कवि, राजाश्रयी कवि की हर बात को ज्यों-का-त्यों लें? या उसमें जो अतिशयोक्ति है, उसे छोड़ दें? कई बार उस अत्युक्ति में ही उस काव्य की प्रभविष्णुता समाई हुई होती है। भूषण की 'शिवाबावनी' को पाठ्य-ग्रंथ रखने के विषय में विवाद तो पुराना है। हाल में 'कुसुमाग्रज' की मराठी कविता 'शिवपूजा' को पाठ्य-पुस्तकों से हटा दिया गया, चूँकि उसमें संप्रदाय-विशेष के मानने वालों की भावनाओं को ठेस पहुँचती थी। 'वंदे मातरम्' और 'जनगणमन' पर भी विवाद उठा।

(४) श्रृङ्गारपरक काव्य की भी आलोचना में वही दुहरे मानदण्ड सब भाषाओं में दिखाई देते हैं। संस्कृत के 'कुमारसंभवम्', 'अमरु-शतक' की तो सराहना की जाती है, पर 'बिहारी सतसई' पर आपत्ति की जाती है। स्त्री-पुरुष मिलन के वर्णन किस सीमा तक साहित्य में क्षम्य हैं, या नहीं हैं, इनका अभी तक कोई मानदण्ड निश्चित नहीं हुआ है। श्लीलता-अश्लीलता की चर्चा बार-बार उठाई जाती रही है। देश-देश की मान्यताएँ अलग होती हैं।

(५) वीर और श्रृङ्गार के साथ-साथ करुणरस कितना ही एकमात्र उदात्त 'रस' कहा जाता हो, साहित्य में अश्रुविगलित करने वाले, भाव-सबल (सेंटिमेण्टल) साहित्य की निंदा भी बहुत की गयी है।

किन्तु शरच्चचन्द्र चटर्जी या साने गुरुजी जैसे उपन्यासकार या सब तरह की 'विलापिकाएँ' (एलिजीज) लिखने वाले लेखकों की ('इन मेमोरियम' के शैले से 'डुइनों एलिजीज' के रिल्के तक) प्रशंसा भी की गयी है। 'बर्थ ऑफ ट्रैजेडी' से लगाकर 'बिवेअर ऑफ पिटी' तक के लेखक पश्चिम में पाये जाते हैं। इसकी भी साहित्यिक सीमा कहाँ तक है ? 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई। दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई' या 'वह आता। दो टूक कलेजे के करता, पछताता।' या 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान। उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान' या 'पीड़ा में तुझको ढूँढ़ा, तुझमें ढूढ़ूँगी पीड़ा' जैसी पंक्तियाँ अमर साहित्य की निधि हो गईं। 'निशा-निमंत्रण' और 'दुःख सब को माँजता है' और इस तरह की पचासों मार्मिक रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं।

(६) गांधी-युग के बाद एक और समस्या हमारे साहित्य में आ गई : समाज-सुधार या देशभक्ति का एक और आयाम जुड़ गया। रचना का मूल्य उसकी अपनी शक्ति से न आँककर रचनेतर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य से जुड़ गया। सारे राष्ट्रीय कवि, या राष्ट्र की आकांक्षा के अनुरूप लिखी गई कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, शुद्ध कला की कसौटी पर कहाँ उतरते हैं ? पर 'मुसद्दस' और 'भारत-भारती', 'सोज़ेवतन' और 'अंधेर-नगरी', 'कैदी और कोकिला' और 'झाँसी की रानी' आदि पचासों महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक मूल्यवान् रचनाएं हमारे सामने हैं, उनका आलोचन किस दृष्टि से किया जाये ? 'नीलदर्पण' या 'कीचक वध' नाटकों का ऐतिहासिक मूल्य है— वे बंगाल और महाराष्ट्र में ब्रिटिश राज में ज़ब्त हुए।

(७) मार्क्सवाद के आगमन से साहित्य और साहित्यकार के 'वर्ग-चरित्र' की बात उठाई जाने लगी है। क्या साहित्य सचमुच 'वर्ग'–पहेली है ? क्या सारा साहित्य भी शोषण के इतिहास से रंजित, या निरा पलायनवाद है ? क्या प्राचीन साहित्य सचमुच अब 'अफीम की गोली' मात्र है ? और त्याज्य है ? ऐसे कई प्रश्न समालोचना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। जैसे राष्ट्रवादी आन्दोलन में 'पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर, गाते कवि 'गर्दभ-मर्दन स्वर' जैसी घटिया रचनाएँ

भी लिखी गयीं, समाजवादी-साम्यवादी प्रभाव में भी पत्रकारिता के कोटि की, क्षणजीवी, गद्य सुखियों को पद्य में पुर्नलिखित, प्रचारगंधी रचनाएँ अनेक लिखी गईं जो आज पुनः पढ़ने पर बचकानी लगती हैं।

(८) दूसरे छोर पर अस्तित्ववाद के प्रभाव से लिखी गयी मानव-नियति से जूझने वाली रचनाएँ कई बार अतिबौद्धिक हो गई हैं, या समझ से परे की हो गयी हैं। ऐसी रचनाओं का क्या किया जाये ? आलोचना के इतिहास में बहुत वर्षों बाद जैम्स जौइस के 'यूलीसिस' को मान्यता मिली। या, मरने के बहुत वर्षों बाद हिन्दी में भुवनेश्वर को नाटककार माना गया। या, आज भी मराठी में जी० ए० कुलकर्णी की कहानियाँ या बाँग्ला में बहुत-सा ऐसा प्रयोगवादी लेखन मान्यता नहीं पा रहा है। इस सब का अर्थ क्या है ? क्या आलोचक वर्तमान रुचियों से जुड़ा हुआ रहे, या उसे भविष्यवादी भी होना चाहिए ?

(९) इधर भारतीय साहित्य में 'निउ वेव' सिनेमा की तरह से मनोविकृति के चित्रण का प्रश्न बार-बार सामने आ रहा है। बनारसी दास जी चतुर्वेदी ने अपने ढंग से 'उग्र' को घासलेटी कहकर उस समय साहित्य-क्षेत्र से खदेड़ देने का यत्न किया था। पर आज विजय तेंडुलकर के नाटक या समरेश बसु के 'विवर' और 'प्रजापति', या हिंदी में भी कई पुस्तकों को लेकर यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। क्या आलोचक समाज का नीति-नियम-नियंत्रक और सेंसर बोर्ड का सदस्य है ? या वह साहित्य में अराजकवाद का ही पृष्ठ-पोषक है ?

(१०) अन्तिम प्रश्न राजनीति से जुड़ा हुआ है। आज विश्व में अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ हैं। लेखक भी अपने-अपने ढंग से प्रामाणिक रूप से किसी न किसी विशिष्ट राजनैतिक पक्ष की पक्ष-धरता अपना सकते हैं। आलोचक उनके विषय में क्या करे ? मराठी में स्वर्गीय सावरकर या हाल में विनोबा भावे के विचारों को लेकर बहुत विवाद हुआ। ऐसे लेखकों को उनके विचारों से अलग शुद्ध साहित्यिक मानदण्डों से देखा जाना अत्यन्त कठिन है।

यह कुछ प्रश्न मैंने आपके सामने विचारार्थ रखे हैं। शायद उन 'यक्ष प्रश्नों' के अन्तिम उत्तर आपके पास भी नहीं हैं। पर मैं आशा करता हूँ कि ये भाषण प्रकाशित होंगे और दस-पचास वर्ष बाद भी

पढ़े जायेंगे। तब तक शायद मनुष्य अधिक प्रज्ञावान्, कम जिज्ञासु और कम लोभी हो चुका होगा। तब शायद इनके उत्तर खोजने में लगी हुई मानवता आइन्सटाइन का यह अन्तिम वाक्य दुहरा सके—

"मुझे इसी का समाधान है कि मैंने असत्य के साथ
समझौता नहीं किया।"